



धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय

चेतना की पत्रिका

अंक : ७१

पौष-ज्येष्ठ:

विक्रमाब्द : २०६२-६३  
जनवरी-जून, २००६ ई०

**सम्पादक - मण्डल**

प्रो० काशीनाथ मिश्र  
महन्त उद्धवदासजी  
डा० श्रीरंजन सूरिदेव  
आचार्य किशोर कुणाल

**प्रधान सम्पादक**  
भवनाथ झा

महावीर मन्दिर प्रकाशन  
के लिए  
प्रो० काशीनाथ मिश्र  
द्वारा प्रकाशित  
तथा  
सर्चलाइट प्रेस में मुद्रित  
पत्र-सम्पर्क:

**धर्मायण,**

पाणिनि-परिसर,  
बुद्ध-मार्ग,

पटना-८००००१

दूरभाष - ०६१२-२२०७७२५

E-mail : mahavirmandir@sify.com

मूल्य : दस रुपये

# धर्मायण

## विषयसूची

- § 'रामचरितमानस' का शिव-सती प्रकरण डॉ० श्रीकांत सिंह
- § भगवान् बुद्ध के "सप्त अपरिहानिया धम्मा" डा० एस० एन० पी० सिन्हा
- § सांस्कृतिक चेतना से अनुस्यूत गया धाम डॉ० तारकेश्वर नाथ सिन्हा
- § सांस्कृतिक कवयित्री  
महादेवी की रहस्यानुभूति डॉ० विनोद कुमार सिन्हा
- § परनिन्दा सम अघ न गरीसा प्रो० रामविलास चौधरी
- § श्री अरविन्द और श्री शंकर प्रो० श्रीकान्त प्रसून
- § युगचेता तुलसी श्रीकान्त व्यास
- § तुलसीदास का देश-काल डी० आर० ब्रह्मचारी
- § दिनकरजी की प्रथम काव्यकृति का नाम डा० श्यामसुन्दर घोष
- § हिन्दी के प्रचार प्रसार में  
धर्म संवाहकों का योगदान डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा
- § श्री ओझा का वैदिक चिन्तन डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
- § तपस्वी भक्तो वा भवति परतन्त्रः परचरः डा० नवीन चन्द्र झा
- § संस्कृत संभाषण का सरल स्वरूप आचार्य सारंगधर
- § रामनवमी-व्रत निर्णय
- § आया शुभ त्योहार देश में होली का डा० नज़ीर मुहम्मद
- § सर्वस्व (कविता) -श्री अरविन्द मानव
- § गङ्गादशहरा-स्तोत्र
- § बुद्धावतार-स्तुति
- § व्रत-त्योहार

सम्पादकीय



यदि हम 6, 9 और 18 इन तीन संख्याओं को ही लें तो हम उनमें विभिन्नता देखेंगे। ये तीनों आकृति, मूल्य आदि स्तर पर समान नहीं हैं। वे एक दूसरे से अलग हैं। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इन तीनों में संख्या 3 समान रूप से है। तीनों में तीन की उपस्थिति है जो इन्हें एक दूसरे से जोड़ती है। गणित के जानकार इसे पहचानते हैं और इसी 3 को वे सामान्य तत्त्व (Common factor) कहते हैं। यदि हम इसे देखें तो हमारे दार्शनिकों ने इसे ब्रह्म की संज्ञा दी है। संसार की प्रत्येक वस्तु में जो सामान्य है वह ब्रह्म है।

यदि हम कापी एवं किताब के बीच यह सामान्य-तत्त्व खोजने की चेष्टा करेंगे, तो हम पायेंगे कि कागज दोनों में है; अतः वही कागज सामान्य तत्त्व है। इस प्रकार कागज से बने जितने भी पदार्थ हैं सबके सामान्य तत्त्व कागज हो जायेंगे। हम उनमें से किसी भी पदार्थ को देखने पर उसे प्रथमतया कागज कहेंगे। साथ ही, यहि हम कागज को अच्छी तरह पहचानते हैं तो उन सभी वस्तुओं को पहचानने में हम भूल नहीं करेंगे।

एक बार की बात है। यूनान में राजा ने सोने का एक मुकुट बनवाया। सुनार जब उस मुकुट को लेकर दरबार में उपस्थित हुआ तो राजा ने अपने दरबार के वैज्ञानिकों से कहा कि इस मुकुट को बिना तोड़े इसकी शुद्धता की जाँच

कीजिए। उस दरबार में महान् वैज्ञानिक आर्किमिडीज भी थे। वे इस विषय पर सोचने लगे। एक दिन वे अपने स्नान घर में 'टब' में नहाने के लिए उतरे तो उन्होंने गौर किया कि 'टब' से कुछ जल बाहर छलक पड़ा है तथा वे अपने शरीर का भार कुछ कम अनुभव करने लगे। इस घटना पर आधारित अनेक प्रयोग उन्होंने किया। अन्त में उन्होंने उतलावन का सिद्धान्त प्रस्तुत किया तथा उसी उतलावकता के आधार पर उन्होंने वस्तु का घनत्व निर्धारित किया पुनः शुद्ध सोने का घनत्व ज्ञात कर उस मुकुट की शुद्धता की जाँच उसे बिना तोड़े हुए कर दी। शुद्ध सोना का घनत्व ज्ञात हो जाने पर उनके लिए मुकुट क्या किसी भी आभूषण की शुद्धता की जाँच आसान हो गयी थी। एक ही वस्तु सोना का ज्ञान हो जाने पर सोने से निर्मित सभी वस्तु उनके लिए समान रूप से ज्ञात हो गये थे। यही स्थिति ब्रह्म के विषय में भी है। इस ब्रह्म के ज्ञात होने पर सभी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं— तस्मिन् ज्ञाते सर्वं ज्ञातं भवति।

एक सूइ है और दूसरा वायुयान है। अन्तर ही अन्तर है। लेकिन दोनों धातु से बने हैं; यह एकता है। यही एकता उन दोनों को एक बनाती है। धात्विकता के स्तर पर हम चिन्तन करें तो दोनों में कहीं हम असमानता नहीं पायेंगे। दोनों का दो होना भी समाप्त हो जायेगा। यही अद्वैत

की स्थिति है। जब दोनों के सामान्य तत्त्व प्रभावी होंगे तब अद्वैत की स्थिति आयेगी। तब हम साइकल और कार के बीच का भेद भूल जायेंगे और यदि हमारे पास केवल साइकल है तो कार के लिए लोभ उत्पन्न नहीं होगा। इस सामान्य तत्त्व के ज्ञान से हमारी लिप्सा मिट जायेगी। यही स्थिति ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न होती है। इसी ब्रह्मज्ञान के कारण महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त नामदेव ने पारस पत्थर को भी बेकार समझकर नदी में फेंक डाला। उन्हें एक सामान्य पत्थर और उस पारस के बीच कोई विशेषता नजर नहीं आयी या सोना और लोहा के बीच कोई विशेषता नजर नहीं आयी जिसके कारण पारस के स्पर्श से बने सोना को विशिष्ट समझा जा सके।

संसार में प्रत्येक वस्तु की सत्ता तब तक विद्यमान है जब तक उनके सामान्य तत्त्व का ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हुआ है और हमने प्रत्येक वस्तु को उस सामान्य तत्त्व के नजरिये से नहीं देखा है। हम संसारी हैं अतः नये नये जूते अपने पहनने के लिए इकट्ठा करते चले आ रहे हैं। किसी नये डिजाइन का जूता बाजार में आया कि हमने उसे खरीद डाला क्यों कि हम हमारे पास जो जूता है उससे कुछ भिन्नता हमें दिखाई पड़ी। हमारी नजर सबसे पहले भेदक तत्त्व पर जाती है; विशेषता पर जाती है। यहाँ तक कि हम धाराप्रवाह बोलने और लिखने में गरम आग कहने की हद को भी पार कर जाते हैं। लाल फूल, पीला फूल, उजला फूल, सुगन्धित फूल आदि कहते हुए हम फूलों का एक संसार रच डालते हैं। यहीं विविधता संसार है; माया है। यही माया संसार का निर्माण करती है। प्रसार माया है तो उसका संहरण ब्रह्म है।

आदि शंकराचार्य ने माया को अविद्या कहा है। उनका यही तात्पर्य है कि विशेषणों के कारण विविध पदार्थों की उपस्थिति का बोध माया है। चूँकि यह अनेकात्मकता अज्ञानता के कारण दिखाई पड़ती है अतः यह माया अज्ञान है। इसके विपरीत एकत्व की भावना ब्रह्म है, जिसमें समस्त विविध पदार्थों का लय हो जाता है तथा जिसके ज्ञात होने पर प्रत्येक वस्तु की सत्ता पृथक् रूप से समाप्त होकर एकीकृत हो जाती है वही ब्रह्म सत्य है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है— **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।** सत्य केवल ब्रह्म है और माया रूपा जगत् असत्य है।

भारतीय परम्परा में यह एकत्व की भावना इस प्रकार समायी हुई है कि संसार से ऊपर उठकर हम हठात् उस एकत्व का दर्शन करते हुए अनेकता में भी एकता के बीज खोजते हैं। यह बीजान्वेषण हमारी बौद्धिकता कतई नहीं है। बल्कि यह सहज स्वाभाविक रूप से निकला हुआ उद्रेक है, जिसके कारण हम प्रत्येक स्त्रीलिंग वस्तुओं को देवी के रूप में देखते हैं और जल का प्रवाह रूप नदी भी हमारी माता हो जाती है; आराध्या देवी बन जाती है और हम सहज भाव से गंगा के पास पहुँचते ही अपना सिर झुका लेते हैं। यह वही एकत्वान्वेषण है कि हमारे चन्दा 'मामा' हमारे लिए हलवा-पूरी लाते माने जाते हैं।

संसार के सभी पुल्लिंग पदार्थ हमारे पुल्लिंग सगे-सम्बन्धी हो जाते हैं तथा सभी स्त्रीलिंग पदार्थ माता और देवियाँ बन जाती हैं। यह भारत का एकत्व दर्शन है। काव्य के सन्दर्भ में तो मानवीकरण इस भावना का सम्पुष्ट उदाहरण है। पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की तरह भारतीय

काव्य-शास्त्र में यह मानवीकरण महज एक अलंकार नहीं है; बाह्य सौन्दर्य का सर्जक तत्त्व नहीं है। कवियों ने इसके द्वारा विराट् रूप का स्पष्ट दर्शन किया है। प्रातःकाल के अरुणाभ क्षितिज से विलसित पूर्व दिशा सूनरी उषा है, जो कभी आकाश की पुत्री के रूप में ऋग्वेद के सूक्तों में वर्णित है। सूर्य भी उस युवती प्रेमिका उषा के पीछे प्रेमी युवक की भाँति विचरण करते हैं—

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां  
मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।  
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि  
वितन्वते प्रतिभद्राय भद्रम्।

यह निरा मानवीकरण नहीं है, यह एकत्व के बीज का दर्शन है। तभी तो कालिदास के यक्ष ने मेघ को अपना छोटा भाई माना और कहा कि तुम अलकापुरी में अपनी भाभी को देखोगे—  
द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।

ब्रह्म का दर्शन इस दृष्टि से सहज है। हमारा संस्कार भी इस दिशा में सहायता प्रदान करता है। इसके लिए हमें विशेषणों के पीछे भागने से परहेज रखना होगा। गणित के छात्र आसानी से जानते हैं कि संख्या 3, 6, 9, 12, 18, 21 आदि का कॉमन फैक्टर क्या है? गणित शास्त्र में उनकी गहराई जितनी बढ़ती जायेगी वे उतनी ही संख्याओं के कॉमन फैक्टर जानने की क्षमता उनमें आती जायेगी। इसी प्रकार संसार के कुछ वस्तुओं का कॉमन फैक्टर जानने का प्रयास हम करते चलें; उनमें समानता खोजने का प्रयास हम करते चलें तब हमारी दृष्टि जितनी विकसित होती जायेगी, हम उतने ही तत्त्वों के बीच कॉमन फैक्टर खोजने में सफलता पाते जायेंगे।

इस प्रकार एक दिन हमारी दृष्टि इतनी विकसित हो जायेगी कि कोई भी पदार्थ विशेष नहीं बचा रहेगा; हम उस तत्त्व को जान लेंगे जो प्रत्येक वस्तु में समाहित है; वस्तुओं के बीच का भेद मिट जायेगा। सम्पूर्ण विश्व हमारे लिए उसी क्षण करामलकवत् दर्शन के योग्य हो जायेगा, जिसका साक्षात्कार हमारे ऋषि-मुनि किया करते थे। उसी समय हम श्रीकृष्ण के विराट् रूप का दर्शन कर लेंगे, जिसका दर्शन महामना अर्जुन ने गीता के उपदेश के समय किया था। गीता के एकादश अध्याय में यह स्थल संसार की विराजता और विविधता के बीच एकत्व के दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वहाँ अर्जुन एक ही शरीर में सम्पूर्ण चराचर जगत् का दर्शन करते हैं।

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।

अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।

(गीता : 11।13)

अर्थात् श्रीकृष्ण के उस अचरज-भरे शरीर में एक ही स्थान पर सारे अलग अलग बसे हुए संसार अर्जुन को इकट्ठे दिखाई दे गए।

अर्जुन ने आगे देखा कि दुर्योधन आदि सभी योद्धा भगवान् श्रीकृष्ण के शरीर में समाहित हैं—

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः

सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।

भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ

सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।26।।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति

दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।

केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु

संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।27।।

मैं देख रहा हूँ कि धृतराष्ट्र के सारे बेटे (कौरव) और उनके सारे साथी राजा लोग, यहाँ तक कि भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे साथ के बड़े बड़े रणबाँकुरे लड़ाकों में से भी कुछ तो बड़ी झोंक से झपटे हुए आपके करारे जबड़ों में जा समा रहे हैं और कुछ लड़ाके आपके दाँतों में फँसे हुए हैं जिनके सिर वहीं कुचले पड़े हैं। 126-27।।

यहाँ एक में अनेक के विराट् दर्शन की स्थिति है। इसी स्थिति का दूसरा रूप है सम्पूर्ण चराचर जगत् में एक को देखना। दोनों ही स्थिति ब्रह्म-दर्शन है।

इसके विपरीत जब हम विशेषणों की ओर बढ़ते चलेंगे तो एक एक बस्तु में भी अनेकता उत्पन्न होने की स्थिति आती जायेगी वस्तुओं की संख्या बढ़ती जायेगी हमारा संसार फैलता जायेगा। यही सृष्टि के विकास की सूक्ष्म प्रक्रिया है। वहीं एक ब्रह्म अनेक रूपों में प्रतिभासित होने लगेगा। मिट्टी के लोथड़े से अलग अलग विशेषताओं से विलसित विभिन्न मूर्तियों का संसार फैलता जायेगा। अन्ततः वह मिट्टी है; वही मिट्टी अलग अलग रूपों में प्रतिभासित होती है, किन्तु उन मूर्तियों को हम मिट्टी नहीं कह सकते, क्योंकि उनमें विशेषता है; माया वहाँ प्रवृत्त है। ब्रह्म से संसार के पदार्थों के निर्माण, या विवर्त का यह प्रकरण है, जिसमें माया प्रवृत्त है।

भारतीय दर्शन इसी ब्रह्म और माया को अनेक नामों से पुकारती आयी है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसे ही रुद्र कहा गया है—  
य एको जालवानीशत ईशनीभिः  
सर्वाःलोकानीशत ईशनीभिः ।

य एवैक उद्भवे सम्भवे च

य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१॥

अर्थात् जो एक मायाजाल फैलाने वाले अपनी ईश्वरीय शक्तियों से शासन करते हैं; सभी लोकों का शासन उन शक्तियों से करते हैं। जो एक जगत् की प्रथम उत्पत्ति तथा सृष्टि विकास में भी इन्हीं शक्तियों से शासन करते हैं। इन्हें जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-

र्य इमाल्लोकानीशत ईशनीभिः ।

प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले

संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥२॥

अर्थात् रुद्र एक ही हैं अतः उससे भिन्न किसी की अपेक्षा ब्रह्मज्ञानी नहीं करते हैं। वे अपनी ईश्वरीय शक्ति से इन लोकों का शासन करते हैं, जो समस्त संसार का निर्माण कर उसका पालन करते हुए प्रलयकाल में प्रति व्यक्ति में अवस्थित रहते हैं।

यहीं ब्रह्म वैष्णव आगम में विष्णु हैं। इसी एकत्व की भावना के बल पर भारतीय परम्परा का उद्गोष है जो हनुमन्नाटक के मंगलाचरण में उपलब्ध होता है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो

बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तन्ति नैयायिकाः ।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः

सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

शैवों के शिव, वेदान्तियों के ब्रह्म, बौद्धों के बुद्ध, नैयायिकों के कर्ता, जैन मतानुयायियों के अर्हत् तथा मीमांसकों के कर्म वस्तुतः एक ही हैं। वे त्रैलोक्यनाथ हैं; हरि हैं। वे हमें अभीष्ट फल प्रदान करें।

## ‘रामचरितमानस’ का शिव-सती प्रकरण

डॉ० श्रीकांत सिंह

‘रामचरितमानस’ का शिव-सती प्रकरण अनेक दृष्टिकोणों से अत्यंत मनोवैज्ञानिक एवं मौलिक है। तुलसीदास ने “रामचरितमानस” के बालकाण्ड के दोहा संख्या 48 से दोहा संख्या 64 तक (17 दोहों) में उक्त प्रकरण को वक्ता याज्ञवल्क्य एवं श्रोता भरद्वाज मुनि के माध्यम से उद्घाटित किया है। सती द्वारा श्रीराम के नारायणत्व पर शंका करने, सीता-वेष धारण कर उनकी परीक्षा लेने और पुनः झूठ बोलने के कारण, शंकर सती को त्यागने की प्रतिज्ञा करते हैं:—“एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।

सिव संकल्पु कीन्ह  
मन माहीं॥ (मा. 1.  
57.1)

सती को अपने मिथ्याचरण, कपटाचरण एवं पति द्वारा परित्याग से असह्य ग्लानि और संताप होता है। वे अपनी मृत्यु तक की कामना करने लगती हैं। और तो और, शंकर जब उनको ‘वाम भाग’ नहीं देकर उन्हें ‘सम्मुख आसन’ प्रदान करते हैं तब वह ‘भार्या’ से राम-कथा की “भावक” बन बैठती हैं। इसी बीच सती के पिता दक्ष ब्रह्मा द्वारा प्रजापतियों का नायक बनाये जाते हैं। वे अभिमान-पूरित होकर विष्णु-यज्ञ का आयोजन

करते हैं। पति द्वारा परित्यक्ता होने से खिन्न सती ज्योंही यह खबर सुनती हैं त्योंही वह पितृ-गृह जाने की आकांक्षा शंकर के सम्मुख व्यक्त करती हैं। चूँकि यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए शंकर के पास कोई आमन्त्रण नहीं आया था। इसलिए शिव सती को वहाँ जाना अकल्याणकारी मानते हैं। वे कहते हैं:—

जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा।

जाइ बिनु बोले हूँ न सँदेहा॥

तदपि विरोध मान जहँ कोई।

तहाँ गएँ कल्यानु न होई॥ (मा. 1.62.

5-6)

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास ने “नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि” कहा है, किन्तु यह अनुहरण मात्र की घोषणा नहीं है। रामचरित मानस में वस्तुतः उन्होंने रामकथा को एक सुनियोजित दृष्टिकोण से सम्पादित किया है। साथ ही उन्होंने अन्य अवान्तर कथाओं को भी कुशल विवेचक की दृष्टि से देखकर परखकर सजाया है। ऐसी ही एक अवान्तर कथा पर यहाँ विवेचन प्रस्तुत है।

सम्पादक

शंकर द्वारा अनेक प्रकार से समझाने के बावजूद सती पति-परामर्श को नजरअंदाज कर अपनी इच्छा से नैहर की यात्रा करती हैं। जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर वह मायके जाती हैं उसका उल्टा फल ही उन्हें वहाँ दृष्टिगोचर होता है। मात्र माता को छोड़कर दक्ष के डर से कोई उनकी आवभगत तक नहीं करता है। सती का कुशल-क्षेम पूछने के बजाय उनको देखकर दक्ष का सारा अंग जल

उठता है। बहनों के व्यंग्य-बाण से घायल होने के बाद जब सती जाकर यक्ष देखती हैं तो वहाँ कहीं शिवजी का भाग नहीं दिखायी देता है। ऐसी दुखावह और ग्लानिजनक परिस्थिति में सती को शंकर की बात याद आती है और उन्हें अपार कष्ट का अनुभव होता है:-

तब चित चढ़ेउ जो संकर कहेउ।  
प्रभु अपमानु समुझि उर दहेउ॥  
पाछिल दुखु न हृदय अस ब्यापा।  
जस यह भयउ महा परितापा॥

(मा. 1.63.5-6)

माता के द्वारा अनेक प्रकार से समझाने के बाद भी सती से शिव का अपमान सहा नहीं जाता है। वह पूरी सभा को फटकारते हुए शंकर की निंदा करनेवाले, सुननेवाले तथा पिता दक्ष को भीषण शाप प्रदान करती हैं। अन्ततः यह कहते हुए योगाग्नि में अपना शरीर जला डालती हैं:-

जगदातमा महेसु पुरारी।  
जगत जनक सबके हितकारी॥  
पिता मंदमति निंदत तेही।  
दच्छ सुक्र संभव यह देही॥  
तजिहऊँ तुरत देह तेहि हेतु।  
उर धरि चंद्रमौलि वृाकेतु॥  
अस कहि जोग अगिनि तनु जारा।  
भयउ सकल मख हाहाकार॥

(मा. 1.64. 5-8)

सती-मरण और उनके शाप का सद्यः प्रभाव यह होता है कि यज्ञ का विध्वंस होता है,

दक्ष की दुर्दशा होती है और शंकर के निन्दक एवं श्रोता भली-भाँति दण्डित होते हैं।

सम्प्रति, 'रामचरितमानस' में वर्णित इस प्रकरण पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि अपनी गलती के कारण शंकर के द्वारा परित्यक्ता सती किसी-न-किसी प्रकार की राहत की खोज में थीं। पति-परित्याग से संतप्ता सती दुःखमय जीवन जी रही थीं। उससे किञ्चित् मुक्ति एवं राहत के लिए वह पिता के यक्ष में अनाहूत होने और पति की अनिच्छा के बावजूद जाती हैं। चूँकि पति ने सहर्ष स्वीकृति नहीं दी थी, इसलिए भी उनके मन में ताप है। वहाँ जाने पर सती को स्वागत, सम्मान और राहत के बजाय घोर अपमान एवं व्यंग्य-बाण प्राप्त होते हैं। और तो और, अभिमानी दक्ष ने उनके पति शंकर को यज्ञांश न देकर व्यापक रूप से उनकी अवमानना की थी। अपना अपमान एवं पति की अवमानना देख उनका परिताप उत्कर्ष को प्राप्त होता है। ऐसी दुखद परिस्थिति में सती का विगत समस्त अकुलाहट, अपमान एवं संताप आदि क्रोध का रूप धारण कर लेता है और वह भयानक त्रासदी को प्राप्त हो जाती हैं।

ध्यातव्य है कि सती को पति-गृह से लेकर पितृ-गृह तक घोर दुखावह जीवन का सामना करना पड़ता है। पति-गृह में वह निजी अपराध के कारण दुःख का वरण करती हैं। महिलाएँ जब ससुराल से निराश हो जाती हैं तब मायके की आशा रखती हैं। लेकिन सती को पिता से आशा अथवा स्नेह के दो शब्द मिलना तो दूर, अपमान और ग्लानि प्राप्त होती है। पति के घर में प्राप्त अपमान का वेत्ता अथवा द्रष्टा कोई दूसरा नहीं था। वह व्यक्तिगत स्तर पर ही अपमानजन्य दुःख झेल रही थीं। पति-परित्याग

के अतिरिक्त उनको अन्य तरह का कलेश भी नहीं था। लेकिन पितृ-गृह में उनका अपमान पिता के द्वारा ही सार्वजनिक रूप से होता है। यहाँ तक कि उस अभिमानी पिता ने शिव के अपमानार्थ ही यज्ञ का आयोजन किया था। सती एवं शंकर के अपमान में सती की माता को छोड़कर उनकी बहनें भी सहायिका होती हैं और उस यज्ञ में उपस्थित सभी सहभागी भी। इस प्रकार टूटन, कुंठा, भग्न आशा, अपमान, दुःख एवं व्यंग्यादि से जर्जर शरीर को समाप्त कर देना ही सती ने श्रेयस्कर समझा। चूँकि सती वहाँ लाचारी की स्थिति में थी, असमर्थ थीं, पुनः पति के घर लायक भी नहीं रह गयी थीं। अतएव, अभिमानी पिता के अनिष्ट की कामना करते हुए तथा शंकर के निदंकों और श्रोताओं को भी शाप प्रदान करते हुए सती ने योगाग्नि में अपना शरीर भस्म कर दिया। अलबत्ता, हम कह सकते हैं कि मनोवैज्ञानिकता की कसौटी पर यह प्रकरण भली-भाँति उतरता है।

‘रामचरितमानस’ में वर्णित इस शिव-सती प्रकरण से सम्बद्ध कथा के स्रोत शिवपुराण, भागवत पुराण, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, कुमारसम्भव आदि ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। ‘भागवत’ के चतुर्थ स्कन्ध (अध्याय 2 से लेकर अध्याय 7 तक) में तथा ‘स्कन्दपुराण’ के माहेश्वर खण्ड (अध्याय 2 से लेकर अध्याय 5 तक में रामचरितमानस’ के शिव-सती प्रकरण का उत्स विद्यमान है। वैसे ‘मानस’ के इस प्रकरण के लिए तुलसीदास ने अधिकांशतः ‘भागवत-पुराण’ को ही आधार बनाया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अन्य ग्रन्थों से अनेक समानताओं के होते हुए भी ‘मानस’ के उक्त वर्णन में पर्याप्त भिन्नताएँ हैं। ‘मानस’ की सती श्रीराम के नारायणत्व पर शंका करती हैं

और उनकी परीक्षा के लिए सीता का वेष धारण करती हैं। सीता-वेष धारण करने के कारण ही शंकर उनका परित्याग करते हैं। लेकिन ‘मानस’ की यह कथा उपर्युक्त अन्य ग्रन्थों में नहीं है। तुलसीदास द्वारा वर्णित यह कथा उनकी मौलिकता एवं गहरी सूझ-बूझ की परिचायिका है। इस कथा के संयोजन द्वारा वे अपने आराध्य के परत्व को प्रदर्शित करते हैं, राम और शिव में अभिन्न सम्बन्ध स्थापित करते हैं और यह भी दिखाना चाहते हैं कि शंकर सदृश पति की बात नहीं मानने का दुष्परिणाम सती को किस प्रकार भोगना पड़ता है। पति-परित्यक्ता पत्नी की मानसिकता एवं उसके मनस्ताप का मौलिक विवेचन करने के पश्चात् तुलसीदास अन्य ग्रन्थों का सहारा यत्किंचित् परिवर्तित रूप में लेते हैं और दिखाते हैं कि दाम्पत्य दुःख में राहत पाने के लिए सती अपने पति शंकर से पिता के यहाँ आयोजित यज्ञ को देखने की अनुमति माँगती हैं। वह शंकर की अनिच्छता के बावजूद वहाँ जाने का हठ करती हैं और अन्ततः उनकी अनिच्छा पूर्वक सम्मति पाकर चली भी जाती हैं। लेकिन ‘भागवत’ में दक्ष-यज्ञ में नहीं जाने की शंकर की सलाह सुनकर सती अनमानी हो जाती हैं, रोने लगती हैं और शंकर को रोषपूर्ण दृष्टि से देखते हुए बिना उनकी आज्ञा के चल देती हैं:-

**सुहृद्दृक्षा प्रतिघातदुर्मनाः**

**स्नेहादुदत्यश्रुकलातिविह्वला।**

**भवं भवान्यप्रतिपूरुषं कथा**

**प्रधक्ष्यतीवैक्षत जातवेपथुः॥**

**ततो विनिःश्वस्य सती विहाय तं**

**शोकेन रोषण च दूयता हृदा।**



पित्रोरगात्स्त्रैणविमूढधीर्गृहान्

प्रेम्णाऽऽत्मनो योऽर्धमदात्सतां प्रियः॥

(भा. पु. 4.4.2-3)

‘मानस’ में तुलसीदास ने पतिपराणा सती शिरोमणि से ऐसा अमर्यादित आचरण नहीं करवाया है। भागवतकार ने सती की उच्छृंखलता एवं स्वच्छन्दता दिखायी है। लेकिन मानसकार ने अत्यन्त दक्षतापूर्वक इस प्रसंग को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। ‘स्कन्दपुराण में सती ने कहा है कि “दुरात्मा पिता ने आपको आमन्त्रित नहीं किया। उसके मन में आपके प्रति सद्भाव है या दुर्भाव, यह सब जानने के लिए मैं वहाँ जाना चाहती हूँ” (स्कन्दपुराण म. सं. 2.57.65)। लेकिन तुलसीदास ने इस प्रसंग को भी परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया है। बिना वस्तुस्थिति को मर्यादासम्मत नहीं है। यहाँ तुलसीदास पुत्री एवं पत्नी, सती के व्यक्तित्व के दोनों रूपों की युगपद् रक्षा करते हैं। ‘स्कन्दपुराण’ में दक्ष ने जब सती को देखा तो कहा- “तुम यहाँ आयी ही क्यों? ठहरो, चाहे चली जाओ” (स्कन्दपुराण 3. 16)। पुनः दक्ष शंकर के विषय में खूब खरी-खोटी सुनाते हैं (स्कन्दपुराण, 3.17-21)। लेकिन तुलसीदास ने यहाँ ‘भागवत’ का आश्रय लिया है और दक्ष के मुख से दुर्वचन न निकलवाकर पिता के व्यक्तित्व की भी रक्षा की है।

‘रामचरितमानस’ में सती ने शंकर की निन्दा करने एवं सुननेवालों के साथ-साथ अपने पिता को जो शाप प्रदान किया है, वह लगभग ‘भागवत’ की तरह है। लेकिन ‘मानस’ में यह प्रसंग जहाँ संक्षिप्त रूप में है, वहीं ‘भागवत’ में काफी विस्तार से (भागवत पुराण, 4.4.9-23)। ‘रामचरितमानस’ में सती मरते समय श्रीहरि से

शिव के चरणों में जन्म-जन्मान्तर के लिए अनुराग होने का वरदान माँगती हैं (मा. 1.65.5)। लेकिन ‘भागवत’ में वे शंकर के चरणारविन्द का चिन्तन मात्र करती हुई योगाग्नि द्वारा अपना प्राणान्त करती हैं (भा.पु. 4.4.27)। यहाँ वरदान को अनुस्यूत कर तुलसीदास ने सती को अगले जन्म में शिव की पत्नी होने की कथा भी संयोजित कर दी है। पुनः वे दक्ष के यज्ञ-विध्वंस का उल्लेख मात्र करके (मा. 1.65.1-2), जो ‘भागवत’ में विस्तृत रूप से वर्णित है (भा.पु. 4.5. 1-26), पार्वती के जन्म और तप का विस्तृत वर्णन (मा. 1.65. 6-1.81.1) करते हैं जो ‘भागवत’ में केवल दो श्लोकों (भा. पु. 4.57.57.58.59) में सूचना मात्र है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित-विशृंखलित शिव-सती प्रकरण को तुलसीदास ने ‘रामचरितमानस’ में अत्यंत सुशृंखलित रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने उक्त प्रकरण को मनोवैज्ञानिकता एवं मौलिकता के निकष पर चढ़ाकर निःसन्देह नव्य तथा भव्य रूप में विरेचित किया है। जाहिर है, ‘संग्रहणीय एवं परित्याज्य की पहचान’ में सिद्धहस्तता रखनेवाले तुलसीदास ने इसी कारण कुछ प्रसंगों को संक्षिप्त किया है, कुछ का विस्तार किया है तो कतिपय को सर्वथा नवीन रूप में उपस्थापित किया है। वस्तुतः ‘रामचरितमानस’ के आलोच्य प्रकरण में तुलसीदास की मौलिक एवं नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का चमत्कार देखते बनता है।

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

कॉलेज ऑफ कॉमर्स, पटना-20

सम्पर्क : 0612-2343947, 9234779971

## भगवान बुद्ध के “सप्त अपरिहानिया धम्मा”

डा० एस० एन० पी० सिन्हा

जब-जब (यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत) तब-तब (परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्) विश्व में ईश्वर के पैगम्बर धर्म-संस्थापना के लिए अवतरित होते आए हैं। ऐसे आस्था-पुरुषोत्तमों के लिए ऋषियों ने कहा है-

बुद्धस्त्वमेव बिबुधार्चितबुद्धिवेधात्।

त्वं शंकरोऽसि भवमन्त्रयशंकरत्वात्।

धाताऽसि धीरशिवमार्गविधेर्विधानात्।

व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि॥

अर्थात् हे प्रभु! तू ही तो बुद्ध है- बुद्ध का मतलब है ज्ञाता, द्रष्टा। जिसके ज्ञान में संसार का कोई रहस्य छिपा हुआ नहीं रह गया है। वह बुद्ध जाग्रत आत्मा है। शंकर-यानी कल्याण करनेवाला। मुक्त मार्ग का बोध करने के लिए सभी आत्माओं में श्रेष्ठ वे अभयदयाण्वि होते हैं।

ई० पू० शताब्दी में धार्मिक शोषण और अधर्म के वातावरण के विरुद्ध धर्म संस्थापना हेतु सभ्यता के विकास के रूप में कई चिंतक-दार्शनिक तत्वद्रष्टा तथा नये-विचार के प्रणेताओं में एक भगवान बुद्ध का भी प्रादुर्भाव हुआ - वैशाखी पूर्णिमा के दिन। ये शांति के महान उपदेशक

करुणावतार कहलाए। बुद्ध की दृष्टि मानव जीवन से दुःखों को हटाने पर ही केन्द्रित की। उन्होंने दुःख का मूलकारण ‘तृष्णा’ की असीमित भावना (तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा) को बताया और तृष्णा-त्याग की बात कहीं अपने अंदर ‘आत्मदीप’ (अप्पदीपो भव) प्रज्वलित करने से ही स्वप्रकाश से लोक प्रकाश एवं अहम्-त्याग सम्भव है। तभी ‘स्व’ को विस्तार-प्रेम-करुणा और मैत्री की ओर होगा। अहम् अल्प की उपासना है और आत्मा भूमा का। अहम् विसर्जन से मनुष्य ‘बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ की ओर प्रवृत्त हो जाता है। अपने चार दशकों से ऊपर भ्रमण कर गरीबों की भाषा में दुख निवारक बातें कहते रहे। अतः उनका प्रयास ‘स्व’ निर्माण से समाज और

भगवान बुद्ध मगध के अंतिम वर्षावास के समय राजगृह के पास गुद्धकूट शिखर पर ठहरे थे। उनके उपस्थापक आनंद ने जब बुद्ध के सामने उस विषय की चर्चा छोड़ी तब उन्होंने आनंद से सात प्रश्न किए और उनके उत्तर मिलने पर अपना मत यों प्रकट किया कि वज्जियों की वृद्धि (अभ्युदय) ही होगी और हानी (क्षय) न होगी। भगवान् बुद्ध के इन सात प्रश्नों की व्याख्या उधी पाठकों के लिए प्रस्तुत है।

राष्ट्र का निर्माण रहा। उनके उपदेशों में इसी का समावेश है। एक बार भगवान बुद्ध वैशाली के आम्र वन में विहार कर रहे थे। मिलने आते हुए लिच्छवियों को लक्ष्य कर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा - ‘अवलोकन करो-भिक्षुओं! उनकी परिषद् को देव-परिषद् समझो।’

लिच्छवियों की गणतंत्रीय व्यवस्था उच्चतम कोटि की थी। राष्ट्रकवि ‘दिनकर’ के

वृद्धों में “वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता। जिसे दृढ़ता विश्व आज, उस प्रजातंत्र की माता।” जिसे भगवान बुद्ध ने देव. लौकिक व्यवस्था कही, उस वैशाली का गणतन्त्रीय व्यवस्था का आदर्श क्या था? हमें समझना होगा। हम समाज के अंग हैं, हमारा कुशल-क्षेम निर्भर है समाज के ‘योगक्षेमं वहाम्यहम्’ पर। इस समझ से अपने अनुप्राप्त कर्तव्यों को निष्ठा-ईमानदारी-दृढ़तापूर्वक पालन करना हमारा दायित्व होगा। इसका स्वाभाविक परिणाम होगा-एक स्वस्थ, सहज, सामूहिक जीवन का पनपना। जो प्राचीन वज्जी देश में पनपा था, जिसकी झाँकी हम बुद्ध के अंतिम प्रवचनों में से एक में पाते हैं। मगध का राजा अजातशत्रु जिसकी राजधानी राजगृह में थी, वज्जी संघ पर आक्रमण करना चाहता था। उसने अपने अमात्य वर्षकार को महात्मा बुद्ध के पास उनकी सम्मति जानने को भेजा। उस समय भगवान बुद्ध मगध के अंतिम वर्षावास के समय राजगृह के पास गृद्धकूट शिखर पर ठहरे थे। उनके उपस्थापक आनंद ने जब बुद्ध के सामने उस विषय की चर्चा छोड़ी तब उन्होंने आनंद से सात प्रश्न किए और उनके उत्तर मिलने पर अपना मत यों प्रकट किया कि वज्जियों की वृद्धि (अभ्युदय) ही होगी और हानी (क्षय) न होगी।

1 जबतक वज्जी अपनी परिषद् की बैठकें भरपूर और बार-बार करते हैं।

2 जबतक मिलकर बैठते उठते और अपने राष्ट्रीय कार्यों को मिलकर करते हैं।

3 जबतक उचित विधि के बिना कानून जारी नहीं करते, विधिपूर्वक बनाये कानून का उल्लंघन नहीं करते और विधिपूर्वक बने कानून से स्थापित प्राचीन संस्थाओं के अनुकूल आचरण करते हैं।

4 जबतक वे अपने वृद्धों और गुरुओं का सम्मान करते, आदर-सत्कार करते, उनके सुनने लायक बातों को सुनते, मानते, तदनुकूल आचरण करते हैं।

5 जबतक वे अपने कुल-स्त्रियों और कुल-कुमारियों पर अत्याचार नहीं करते।

6 जबतक वे अपने चैत्यों (जातिय मंदिरों और स्मारक) का आदर-सत्कार करते।

7 जब तक अपने अर्हत्तों की शरण, रक्षा और पोषण का उचित प्रबंध करते हैं - तब तक वज्जियों की वृद्धि ही समझनी चाहिए। मैंने वैशाली के सारन्दद चैत्य में अपने प्रवास के अवसर पर वज्जियों को इन धर्मों का उपदेश दिया था, ये जब तक उनका पालन करते रहेंगे, इनकी उन्नति ही उन्नति है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि किसी जाति को जिसमें सामूहिक जीवन की स्वस्थ-सम्य-बलबती धारा प्रवाहित होती है-केवल बाहरी भौतिक शक्ति के दबाव से जीता नहीं जा सकता।

बुद्ध के इस प्रवचन में ‘सप्त अपरिहाणिक धम्म’ अर्थात् हानि न होने देनेवाले सात धर्म की सात व्यवस्था है। उच्चतम श्रेणी के सामाजिक विचारों को इसमें स्वतः समावेश है। यह प्राचीन भारत की राजनीति में आध्यात्मिक चिंतन का उत्कृष्ट अनूठा नमूना है। ये आदर्श चिन्तन वस्तुतः सार्वभौमिक सार्वकालिक हैं और अनुकरणीय हैं। ये व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अस्तित्व और उत्तरोत्तर विकास के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं।

ध्यातव्य है कि भगवान बुद्ध के ‘सत्त अपरिहानिया धम्मा’ के आदर्श न केवल प्राचीन वैशाली के लिए हैं बल्कि किसी भी प्रजातन्त्रीय राष्ट्र के स्थायित्व के ये आदर्श हैं।

पहली बात जिस पर भगवान बुद्ध ने जोर

दिया था वह हे शासन-सभाओं का बार-बार मिलना और मिल-जुल कर, कोई निर्णय करना। ऐसा न होने से देश में 'फासिज्म' अथवा 'डिक्टेटरशिप' का खतरा बना रहता है। पहला आदर्श उसे ही रखा था जिसकी नींव पर प्रजातान्त्रिक व्यवस्था सुचारु ढंग से सुदृढ़, स्थिर एवं स्थायी तौर पर कायम रहती है। शांतिपूर्ण सहअस्तित्व में निर्णय न होने से आसपास और विश्व के कई देशों में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था ध्वस्त होने के प्रमाण स्पष्ट दिखाई देते हैं। दूसरा आदर्श है मिलकर काम करना, उठना-बैठना और मिलकर राष्ट्र के उत्थान-समृद्धि के लिए 'स्वधर्म-कर्म' का पालन करना। देश में बहुत से दल हों, सभा भी बार-बार हो मगर मेल एवं एकमत हुए बिना काम आगे नहीं बढ़ता है। मतैक्य होना जरूरी है, नहीं तो सरकार बराबर बदलती रहती है। भगवान बुद्ध गणतन्त्र का तीसरा मूल मन्त्र रखा था-बिना कानून बनाए कोई आज्ञा जारी न करना। बने नियम का उच्छेद न करना और पुराने राष्ट्रीय कानूनों का पालन करना। भगवान बुद्ध अवैध निकता के विरोधी और मध्यम मार्ग के अनुनायी थे। सचमुच जल्द-जल्द कानून बदलने से देश में उच्छृंखलता फैल जाती है। राष्ट्रीय कानूनों के प्रति लोगों के हृदय में उतनी आस्था नहीं रहती है। भगवान बुद्ध ने चौथे आदर्श के रूप में कहा था- वृद्धजनों का आदर-सत्कार करना। उनसे परिपक्व बातें ग्रहण करना मानना जी राष्ट्रहित में हो, क्योंकि वह पथ-प्रदर्शक बन सकता है। उनके अनुभव अगर समाज-राष्ट्रहित में हो तो उसका सम्मान करना। बुजुर्गों का सम्मान करना-भारत की वैभशाली परम्परा रही है। पाँचवा आदर्श-स्त्रियों के सम्मान की रक्षा करना। नारी जाति का सम्मान कर ही कोई सभ्यता-संस्कृति जीवित रह सकती है। 'मातृदेवो भव' आदर्श रहा

है भारत का। छठा आदर्श धार्मिक स्थानों का आदर-सत्कार करना। खासकर जहाँ कई धर्मों के मानने वाले रहते हैं, इसकी बड़ी जरूरत होती है। लिच्छवियों ने इस बात को महसूस किया था। क्योंकि वैशाली कई धर्मों का केन्द्र था और वहाँ धार्मिक समभाव का वातावरण भी था। वैशाली गणराज्य की सातवाँ आदर्श था धार्मिक पुरुषों का स्वतंत्रता पूर्वक आने-जाने देना। राज्य में उनकी रक्षा का बन्दोबस्त करना। किसी भी उन्नत राष्ट्र की चुनौती है कि उसमें सर्वधर्म समभाव का वातावरण कायम रहे। भारत अभी तक उस आदर्श को पूर्णरूपेण पालन करता आ रहा है।

भगवान बुद्ध ने प्राचीन वैशाली के जिन आदर्शों को बतलाया है वे आदर्श वस्तुतः सार्वकालिक सार्वभौमिक एवं अनुकरणीय हैं। सच्चे अर्थों में वे प्रजातंत्र के विकास और राष्ट्रोत्थान के सूत्र हैं और शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के भी जिससे समाज-राष्ट्र और विश्व में शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकेगा। इस खूनी मानवता और विनाशकारी आणविक युग में।

वैशाली वासियों के ये सात गुण भगवान् बुद्ध को बहुत पसंद आए थे। इनमें पहले तीन जनतान्त्रिक व्यवस्था के मूलमन्त्र हैं। वृद्धों और स्त्रियों के प्रति सम्मान का भाव उनकी उच्च कोटि के सुसभ्य और सुसंस्कृत होने के द्योतक हैं। अन्तिम दो में धर्म के प्रति वज्जियों की उदारता दीखती है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'वैशाली की महिमा' पर अपने एक व्याख्यान में यों व्यक्त किया था- "वैशाली ज्ञान, कर्म एवं राजशक्ति की त्रिवेणी रही है। भगवान बुद्ध ने वैशाली में ही आकर शिक्षा ग्रहण की थी। ज्ञान की साधना के लिए यह बड़ी ही पवित्र भूमि थी। यह तो इतिहास प्रसिद्ध है कि लिच्छवी अजेय

शक्ति थे। लिच्छवियों की शक्ति गुप्तकाल तक अक्षुण्ण रही। संसार के इतिहास को इस भूमि ने प्रजातंत्र दिया। एक मत होकर रहना सिखाया। भगवान बुद्ध आजीवन इस बात पर अडिग रहे कि स्त्रियों को संघ में प्रवेश नहीं होना चाहिए। लेकिन वैशाली आकर उन्होंने निश्चय किया कि स्त्रियों को भी इतना अधिकार मिलना चाहिए, जितना पुरुषों की है। यह नगरी पंचायती राज्य की जन्मभूमि रही है। यहाँ प्रजातांत्रिक व्यवस्था का अति विकसित रूप सर्वत्र दिखाई देता था।”

शासन-प्रणाली की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि उसके द्वारा राज्य चिरस्थायी हों। इस कसौटी पर लिच्छविगण-शासन प्रणाली चिरस्थायी एवं प्रमाणित सिद्ध हुई थी। बौद्ध संघ का संगठन करने में भगवान बुद्ध ने लिच्छवियों के राजनीतिक संघ को अपना आदर्श माना था। सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा था- “Liberty lies in the hearts of men and women. When it lies there, no constitution, no law, no court can. Aave it, when it lies there it needs no constitution, no law, no court to save it.”

सचमुच लिच्छवियों में सहचिन्ता अर्थात् शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की उदात्त भावना समाहित थी। वे उदार प्रकृतिवाले वैश्विक चेतना सम्पन्न थे। यही उनके चिरस्थायीत्व का प्राण तत्त्व था।

लिच्छवीगण का एक बल था वज्जी संघ के सदस्यों से संयुक्त होकर रहना। जैसा भीष्म ने कहा था- ‘गणों को यदि जीवित रहना हो तो उन्हें सर्वदा संघ प्रणाली का अवलम्बन करना चाहिए।’ कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी इस पर बहुत जोर दिया था। प्राचीन भारतीय शासकों ने संघ की उपयोगिता अच्छी तरह समझी थी।

वे ‘संघे शक्ति-संघ सेना’ के बल से भौतिक समृद्धि प्राप्त करते थे।

गणों की साधारण सभा में समानता का सिद्धान्त बरता जाता था। भारत-भूमि की यह परम्परा ऋग्वैदिक काल से ही थी। ऋग्वेद के इस मन्त्र से यह स्पष्ट परिलक्षित है - “सं गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि। समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुहासति” अर्थात् “तुम्हारा अभिप्राय एक समान हो तुम्हारे अन्तःकरण एक समान हो, और तुम्हारा मन एक समान हो, जिससे संघ शक्ति की दृढ़ता होगी।”

प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नल्ड टायनवी ने ऐसी 27 सभ्यताओं का जिक्र किया है। जो संकीर्णतावादी व्यवस्था में थी - वे नष्ट हो गयी। उदारवादी (वसुधैव कुटुम्बकम्)-व्यवस्था-महाकवि इकबाल के शब्दों में ‘हस्ती मिटती नहीं हमारी, यूनान मिश्र रोमा मिट गये, सारे जहाँ से’- के लक्ष्य को प्राप्त करती रहती है। महात्मा गाँधी ने भी सामूहिक भावना (सहचिन्तमेषाम्) की महत्ता को अन्तर्दृष्टि से समझा और भारतीय परम्परा के आधार पर जीवन की व्यवस्था दी थी और चिन्त-परिवर्तन का केन्द्र बिन्दु बनाया। महत्व साथ-साथ पढ़ने, साथ-साथ रहने का नहीं बल्कि ‘सहचिन्ता’ का अर्थ है जिससे हृदय समान होता है, मन समान होता है। चलना-बोलना-जानना समान होता है। यह ‘देवसमाज’ का प्रतिरूप है। लिच्छवी वज्जी संघ के इन्हीं देवगुणों की चर्चा कर गौतम बुद्ध ने उसे अजेय बताया था। इससे संकेत पाकर मगध के सम्राट् अजातशत्रु ने अपने महामात्य वर्षकार के माध्यम से जब वज्जी संघ की ‘सहचिन्ता’ नष्ट कर दी तब लिच्छवी गणतन्त्र भी मगध से युद्ध में पराजित हो गया।

महात्मा गाँधी ने भी इसी 'सहचिन्ता' के आधार पर सभी धर्मों के सभी वर्ग के लोगों के सर्वोदयी व्यवस्था का आधार कायम किया था। गाँधीजी ने "सर्वधर्म समभाव" का अपने जीवन में साधना की और उनके नेतृत्व में आश्रम में एवं बाहर स्वतन्त्रता आन्दोलन में संघर्षरत सेनानियों के हृदय में सर्वधर्म समभाव गहरे रूप में पनपा और भारत में तो इसकी जड़ ऋग्वैदिक काल से ही सुदृढ़ थी। फलस्वरूप इसकी आध्यात्मिक उर्वरक भूमि में जो प्रजातान्त्रिक व्यवस्था कायम हुई वह आज तक कायम है। जबकि उसी समय यह प्रजातान्त्रिक व्यवस्था पड़ोसी देशों एवं अन्य देशों में भी स्थापित हुई और प्रायः नष्ट हो गयी है क्योंकि "सहचिन्ता" सर्वधर्म समभाव और वैश्विक चेतना सम्पन्न भावना से ओतप्रोत नहीं थे। आज हमारा समाज और पूरा विश्व अनेक क्षेत्रों में, अनेक सम्प्रदायों में और अनेक पन्थों में

बँट चुका है। एक-दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्द्धा और क्रोध की भावना है। ऐसे समय में गौतम बुद्ध पूरे विश्व के लिए प्रासंगिक होते जाते हैं। और प्रकाश स्तम्भ भी। मौजूदा हालात में सहअस्तित्व से ही विश्व में शान्ति की स्थापना हो सकेगी। विनाश के कगार पर खड़े विश्व को विज्ञान की शक्ति का उपयोग सत्य की प्राप्ति के लिए एवं सत्ता के बदले 'सेवा-परस्पर सहयोग' के लिए करना चाहिए। तभी विनाशोन्मुख विश्व सुरक्षित रह सकता है। सचमुच आज मनुष्य जिस चौराहे पर खड़ा है, उसे दो में से एक को चुनना है- सत्य और सेवा-सहयोग-प्रेम, करुणा का मार्ग या सत्ता और सर्वनाश का मार्ग (नमो तस्य भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्य बुद्धम् शरणम् गच्छामि)

बी. 92, पी० सी० कॉलोनी  
लोहियानगर, पटना-20

## सब दुःखों की जड़ - तृष्णा

“प्रमादरत मनुष्य की तृष्णा..... की भाँति बढ़ती ही जाती है। वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु प्राप्त करने की होड़ में जीवन यापन करता है- चंचल इतना कि एक दबता है, तो दूसरा उठता है और उसका मन इतना चंचल कि मझावता का जीवन जीता है। यह तृष्णा जिसे जकड़ लेती है, उसे शोक ग्रसित कर जीवन प्रायः क्षत-विक्षत कर देती है। इस दुर्जेय ग्रसित कर जीवन प्रायः क्षत-विक्षत कर देती है। इस दुर्जेय तृष्णा पर जो इस जगत में काबू पा लेता है, उसका शोक इस प्रकार झड़ जाता है जिस प्रकार कमल के पत्ते पर जल के बिंदु। जैसे जड़ के पुष्ट होने के कारण कटा हुआ वृक्ष फिर से उग आता है, वैसे ही जब तक तृष्णा की जड़ न कटे, तब तक दुःख बराबर पैदा होता रहेगा। राग युक्त संकल्प के स्रोत चारो ओर बह रहे हैं जिसके कारण तृष्णा रुपी लता अकुंरित होती रहती है और जड़ पकड़ती रहती है। जहाँ भी तुम यह लता पकड़ती हुई देखो, वहीं प्रज्ञा की कुल्हाड़ी से उसकी जड़ काट डालो। प्रज्ञा, शील समाधिस्थ (स्थितप्रज्ञ) जीवन संपन्न कर अच्छे और नीति मार्ग पर प्रतिक्षण चल कर अच्छे काम करते रहने से मन की वृत्ति चंचल नहीं होती, भटकती नहीं- तृष्णा का भी नाश स्वतः होता रहता है”-

डा० एस० एन० पी० सिन्हा के सौजन्य से

## सांस्कृतिक चेतना से अनुस्यूत गया धाम

डॉ० तारकेश्वर नाथ सिन्हा

पाश्चात्य सभ्यता-संस्कृति से प्रभावित तथा सनातन-धर्म को न समझने वाले कुछ देशी एवं विदेशी लोग हिन्दुओं के बहुदेववाद के विषय में जानकर उनकी खिल्ली उड़ाते हैं कि सनातन धर्म का कोई एक प्रामाणिक देवता या देवी नहीं है। जैसा कि इस्लाम, ईसाई या बौद्ध धर्म में है। इसी तरह हिन्दुओं का कोई एक प्रामाणिक ग्रन्थ भी नहीं है। वास्तव में इस तरह की बातें साधारणतः वे लोग ही करते हैं जो सनातन धर्म-सभ्यता-संस्कृति-अध्यात्म-दर्शन से पूर्ण रूप से अनभिज्ञ हैं। यदि वे कुछ जानते भी हैं तो इस

सम्बन्ध में उनका ज्ञान पूरी तरह से सतही है। सच तो यह है कि विश्व की सबसे प्राचीन सनातन धर्म ही है जो वेदों में मण्डित है और वेद संसार के सबसे

महाभारत के वन पर्व के ६३वें अध्याय (सातवलेकर संस्करण) में गया नगरी के संस्थापक राजर्षि गय का माहात्म्य वर्णित है - **अमूर्तरयसः पुत्रो गयो राजर्षिसत्तमः। पुण्यानि यस्य कर्माणि तानि मे शृणु भारत।।१७।।** यहाँ पाण्डवों ने भी यज्ञ किया था। बाद में भगवान् बुद्ध की सम्बोधिप्राप्ति की स्थली के रूप में भी यह नगरी विश्वविख्यात रही है। इस गया की सांस्कृतिक स्वरूप के एक पक्ष का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

प्राचीन एवं प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ है, जिसे भारतीय ही नहीं, पाश्चात्य विद्वान् भी हृदय से स्वीकार करते हैं। वेदों को समझने और समझाने के लिए ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों की रचना हुई है। वेदों में एक ही परब्रह्म की कल्पना की गयी है, और उसी परब्रह्म से अनेक देवी-देवता प्रकट हुए हैं। परब्रह्म ने स्पष्टतः कहा है कि - 'एकोऽहम् बहु

स्याम' अर्थात् एक से अनेक हो जाऊँ। इसी को अनेक भी कहा गया है - 'एकं सद् विप्रा बहुध ॥ वदन्ति' आखिर ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिए है कि सनातन धर्म ने इसे स्वीकार किया है कि प्रकृति के कण-कण में परब्रह्म का निवास है। प्रकृति से जो उसे प्राप्त होता है, उसके प्रति आभार व्यक्त करने के लिए हिन्दू उनकी स्तुति करते हैं और देवता उसे स्वीकार करते हैं। अतः, यही कारण है कि सनातन धर्मी लोग सूर्य, अग्नि, जल, वायु, चन्द्र आदि को भी देवता मानते हैं।

अथ

निक विद्वान् यह मानते हैं कि कोई भी एक व्यक्ति सभी चीजों का विशेषज्ञ नहीं हो सकता।

सृष्टि के समस्त कार्यों के सम्पादन के लिए परब्रह्म ने अपने को तीन रूपों में विभक्त किया है- जिसमें ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश। फिर इसमें खिल्ली उड़ाने तथा प्रामाणिकता एवं अप्रामाणिकता की बात कहाँ से आ गयी? यह तो स्वयं सिद्ध है, विश्वास है, आस्था है।

'संस्कृति' शब्द सम्-कृ-क्तिन् के योग से निष्पन्न है। साहचर्य की क्रियाओं से परिष्कृत

स्थिति ही संस्कृति है। संस्कृति शब्द के मूल में 'संस्कृत' शब्द है, जिसका अर्थ है- संस्कार किया हुआ, दोष तथा त्रुटियाँ को निकाल कर परिशुद्ध किया हुआ। 'संस्कृति' शब्द अंग्रेजी कल्चर (Culture) का समानार्थक है। इसकी व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के कोलर (Colar) धातु से निष्पन्न कुल्दुरा (Cultura) शब्द से हुई है, जो पूजा करना तथा कृषि सम्बन्धी कार्य का बोधक है। Culture तथा अंग्रेजी का Cultivation में समानता भी है। कृषि विद्या के सिद्धान्तों के आधार पर जिस प्रकार पेड़-पौधों को सुविकसित करके अच्छी खेती तैयार की जाती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्यों में भी मानवता की पावन भावनाओं को पुष्पित और पल्लवित करने के लिए जिस पद्धति का अनुसरण किया जाता है, या जो प्रक्रिया अपनायी जाती है, उसे संस्कृति कहते हैं। संस्कृति में मनुष्य की सम्पूर्ण आदर्श समन्वित हो जाते हैं। इसमें कला, अचार-विचार, रीति-नीति, लोक-विश्वास, दर्शन, कला-शिल्प आदि का भी अन्तर भाव होता है।

सभ्यता मनुष्य के सामाजिक गुणों तथा बाह्य वैभव की संवाहिका है। संस्कृति के क्षेत्र में आने वाले दर्शन, आदर्श, विश्वास और परम्पराएं आदि जीवन के लक्ष्य अथवा साध्य बन जाते हैं। लोक-संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष में परलोक सम्बन्धी धारणा, मोक्ष तथा स्वर्ग सम्बन्धी विचार, साधना मार्ग, जीवन का आदर्श और धार्मिक सिद्धान्तों का समावेश होता है। शिष्ट-संस्कृति और लोक संस्कृति परस्पर एक दूसरे के पूरक होते हैं। पण्डित बलदेव प्रसाद उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि -

'लोक-संस्कृति शिष्ट-संस्कृति की सहायक होती है। किसी देश के धार्मिक विश्वासों, अनुष्ठानों तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों

संस्कृतियों में परस्पर सहयोग अपेक्षित रहता है। इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है। ये दोनों संहिताएँ दो विभिन्न संस्कृतियों के स्वरूप की परिचारिकाएँ हैं। यदि अथर्ववेद लोक संस्कृति का परिचायक है तो ऋग्वेद शिष्ट संस्कृति का दर्पण है। अथर्ववेद के विचारों का धरातल सामान्य जन-जीवन है, तो ऋग्वेद का विशिष्ट जन-जीवन है।' [समाज पत्रिका : काशी विद्यापीठ, वर्ष-4, अंक-3, वर्ष 1958 ई०, पृ० 446]

धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के क्षेत्र में भारत अपने नाम को सदा सार्थक करते रहा है। प्रकाश अर्थात् ज्ञान का सतत अनुसन्धान करने वाला ऐसा विचित्र देश पूरे विश्व-फलक पर अपने आप में अकेला है। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक इसका व्यापक वितान अनगिनत धार्मिक एवं सांस्कृतिक दीप-स्तम्भों से परिवृत है- क्या गाँव और क्या नगर-यहाँ तक जंगलों, नदियों, पहाड़ों और जल-प्रपातों से भी अनेक सांस्कृतिक उत्स प्रसर्वित होते रहते हैं, जो देशी-विदेशी पर्यटकों को एक झलक में ही अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं।

'गया' महाराज गय की नगरी है। महाभारत में इसका उल्लेख आया है। इस शब्द के वर्ण विपर्यय से 'याग' बन जाता है जिससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ की भूमि प्राचीन काल से ही 'यज्ञ' या आग की पावन भूमि रही है। जिससे इसकी सांस्कृतिक महत्ता का तत्त्वबोध होता है। आज पूरे देश में ही नहीं वरन् विदेशों में भी एक सांस्कृतिक एवं धार्मिक नगर के रूप में यह विख्यात है। 'The city of Gaya is one of the oldest existing city of the world'. [P.C. Ray Choudhary, Bihar District Gezzetteer's, Gaya Page-22]

मगध के हृदय-क्षेत्र गया के मध्य भाग में प्रवहमान फल्गु नदी ने गया के इतिहास को



प्रारम्भ से ही उसी प्रकार प्रभावित किया है- जैसे गोदावरी ने नासिक को, सरयू ने अयोध्या को, मूसी ने हैदराबाद को, शिप्रा ने उज्जैन को, काबेरी ने कुम्भकोणम् को, मन्दाकिनी ने चित्रकूट को। इस तरह कई दृष्टियों से सम्पूर्ण भारतीय नदियों में श्रेष्ठ फल्गु ने मगध प्रदेश के इतिहास निर्माण के सहायक तत्त्व के रूप में प्रारम्भ से ही इस धरा धाम के कण-कण को प्रभावित एवं पवित्र किया है, जिसकी परम्परा वर्तमान में भी देखी जा सकती है। 'फल्गु' के तट पर बसा प्राचीनतम एवं धार्मिक नगर 'गया' का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि श्राद्ध, तर्पण एवं पिण्डदान के लिए प्रसिद्ध स्थान है। पुराण के अनुसार मृतात्माओं की मुक्ति तथा परितृप्ति हेतु, यहाँ आते हैं। यहाँ-प्रत्येक वर्ष भाद्र की चतुर्दशी से आश्विन कृष्ण पक्ष तक 17 दिनों तक पितृपक्ष का पर्व समायोजित होता है, जो पिण्डदान की सर्वश्रेष्ठ अवधि मानी गयी है। इस अवसर पर देश-विदेश के लाखों हिन्दू-धर्मावलम्बी अपने पूर्वजों के नाम श्राद्ध, तर्पण एवं पिण्डदान करने के लिए यहाँ आते हैं और वे तर्पण 'गया श्राद्ध' के नाम से जाने जाते हैं।

**तेषां त्रयः पूजिता स्युः**

**भविष्यन्ति तथाग्नयः।**

**पूजिताश्च त्रयो देवा,**

**ब्रह्म-विष्णु-महेश्वराः।'**

अर्थात्, श्राद्ध से तीनों देवता-ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों अग्नि एवं तीनों लोक पूजित हो जाते हैं।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन तथा अनुशीलन से ज्ञात होता है कि हमारी संस्कृति के निर्माण में धर्म की प्रेरणा रही है। धर्म ही भारतीय जीवन-पद्धति का प्राण है। यदि यह कहा जाए कि हमारी संस्कृति धर्म के ताने-वाने से बुनी

गयी है, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। हमारी संस्कृति साहित्य और समाज में धर्म का स्वर सबसे ऊँचा है। चार पुरुषार्थों में धर्म अग्रगण्य है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष।

'मोक्ष' हमारी संस्कृति की विकास यात्रा का अन्तिम एवं अनिवार्य पड़ाव है, जो धर्म से आरम्भ होता है। यदि धर्म से मोक्ष तक की यात्रा होगी तो निःसंदेह अर्थ और काम मार्ग में ही मिल जायेंगे। यदि गया धाम से चलने वाला यात्री मोक्ष-धाम वाराणसी पहुँचना चाहता है, तो बीच के स्टेशनों के टिकट उसे नहीं लेने लड़ते हैं। कुछ देर के लिए भी अन्य स्टेशनों में गाड़ी ठहरती है, जहाँ यात्री थोड़ी सौदेबाजी कर सकते हैं या अल्पाहार ले सकते हैं। जिन लोगों के मन बीच के स्टेशनों में ही रम जाते हैं, उनके गन्तव्य की गाड़ी छूट जाती है। वे वहीं भटक कर रह जाते हैं। ठीक यही दशा संसार में आये जीवों (प्राणियों) का भी होता है। इसलिए धार्मिक भावनाओं से भावित होकर तथा धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमारी श्रुतियों का निर्माण किया गया था। आर्यों के धार्मिक उद्गारों ने वैदिक ऋचाओं का स्वरूप ग्रहण किया। धर्म-सम्बन्धी या यज्ञादि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए 'ब्रह्मण' तथा 'आरण्यक' ग्रन्थों की रचना की गयी। धर्मशास्त्र की रचना मूलतः समाज में धर्म की स्थापना के लिए ही की गयी थी। हमारी प्राचीन संस्कृति में 'आत्मा' को ईश्वर का अंश माना गया है, जो पूर्णतः या अविनाशी या अक्षय है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार-

**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**

**न चैनं क्लेदयन्त्यापी न शोषयति मारुतः।'**

(2/23)

इसी कारण पुराणों में गया क्षेत्र को मुक्तिदायिनी क्षेत्र कहा गया है। 'वायु-पुराण' में

मुक्ति के चार साधन बतलाये गए हैं और कहा गया है कि-

**ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोगृहे मरणं तथा।  
वासः पुसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरेषा चतुर्विधा॥**

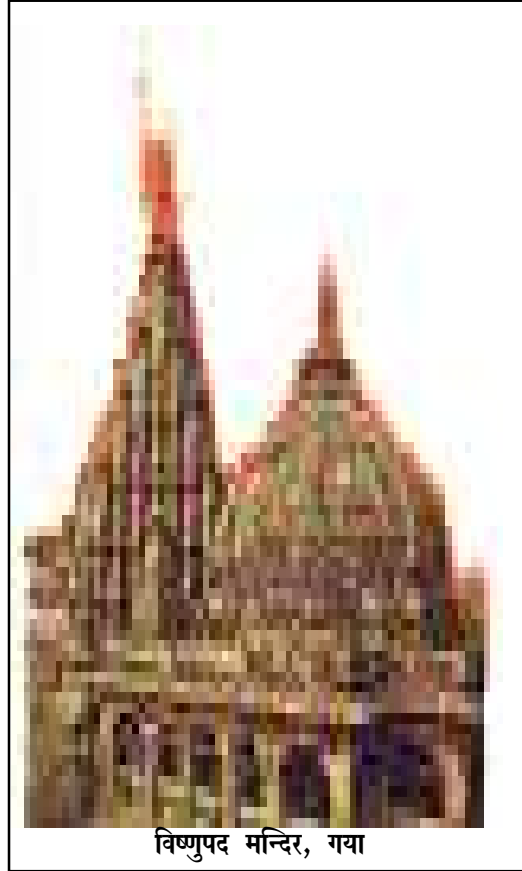
अर्थात् मुक्ति के चार साधनों में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति, गया में श्राद्ध, गोशाला में मरण तथा कुरुक्षेत्र में वास करना है। किन्तु, इन चारों में सर्वोत्तम साधन गया में श्राद्ध को बतलाते हुए ऐसा कहा गया है कि -

**ब्रह्मज्ञानेन किं साध्यं गोगृहे मरणेन किम्।  
वासेन किं कुरुक्षेत्रे यदि पुत्रो गयां व्रजेत्।'**

अर्थात् ब्रह्मज्ञान कैसा साधन, गोगृह में मरण कैसा और कुरुक्षेत्र में बसना क्यों- अर्थात् ये सारे साधन निष्फल हैं। यदि पुत्र गया जाकर केवल श्राद्ध कर ले। इसी कारण 'गया' को तीर्थों का प्राण कहते हुए 'गया प्राण' शब्द का व्यवहार किया गया है। इसीलिए धार्मिक ग्रन्थों में 'पुष्कर' को तीर्थों का गुरु, 'प्रयाग' को राजा तथा 'गया' को प्राण कहा गया है। इससे गया की श्रेष्ठता परिलक्षित होती है। यह सर्वविदित है कि जिस प्रकार काशी में व्यक्ति को मृत्यु होने पर उसे 'सायुज्य मोक्ष' की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार गया में पितरों को पिण्डदान और तर्पण कर देने से उन्हें ऊर्ध्वगति की प्राप्ति होती है।

यह भगवान् विष्णु का क्षेत्र है। यहाँ विष्णु की मूर्ति न होकर उनके दाहिने पैर का चरण चिन्ह है, जो एक विशेष प्रकार के चट्टान पर अंकित है। जिसकी पूजा वर्तमान विष्णुपद मंदिर में होती है। वर्तमान में 100 फीट ऊँची विशाल मंदिर का निर्माण अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इंदौर की महारानी अहिल्याबाई होल्कर द्वारा 1725 से 1785 ई० द्वारा हरित-श्याम ग्रेनाइट चट्टान से कराया गया है। कहा जाता है कि विष्णु के प्रसिद्ध मन्दिर तथा फल्गु नदी के तट पर स्थित

रमणीक घाट का निर्माण उन्होंने ही करवाया था। इनके अतिरिक्त प्रेतशिला के पुराने मन्दिर को वर्तमान रूप देना भी इन्हीं का की काम था। इन मन्दिरों के निर्माण के फलस्वरूप वे सम्पूर्ण भारतवर्ष के हिन्दुओं के बीच प्रसिद्ध हो गयी। गया में एक अलग मंदिर है, जहाँ देवी रूप में



उनकी वन्दना प्रतिदिन की जाती है।

सभी पुराणों में ब्रह्म या परमात्मा को 'भगवान्' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। वेदों के सर्वव्यापक परमात्मा ही भगवान् विष्णु हैं। वेदों में इन्हीं भगवान् विष्णु की अनन्त महिमा का गान किया गया है। वैदिक 'पुरुषसूक्त' में जिस परमतत्त्व का निरूपण किया गया है, वह

विष्णुतत्त्व है। इसी भगवान् विष्णु (श्रीहरि) की महिमा का सभी शास्त्रों ने गान किया है -

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।  
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(हरिवंश पुराण : 3/132/45)

भगवान् विष्णु के दाहिने पैर के अंगूठे से 'फल्गु' का उद्भव हुआ है, जिसे भक्तजन विष्णु को जलपूर्ति मानते हैं। इसलिए इसमें स्नान-पूजादि का अपना एक विशेष महत्व है।

गया का सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान श्राद्ध-यज्ञ है अर्थात् पितरों का पिण्डदान एवं तर्पण। पितरों को तिल मिश्रित जल की अंजलियाँ प्रदान करना तर्पण कहलाता है। तर्पण से सभी तरह के पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं। 'ब्रह्मपुराण' में कहा गया है कि-

एकैकस्य तिलैर्मिश्रास्त्रीन् दद्यादञ्जलीन् पितॄन्।  
यावदेव कृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥

तर्पण न करने से शरीर का रक्त-शोषण होता है - 'अतर्पिताः शरीराद्बुधिरं पिबन्ति।'

वस्तुतः, तर्पण से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कल्याण होता है यदि यह कर्म विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न किया जाए। अतः कुश के अग्रभाग से देवताओं का, मध्य भाग से मनुष्यों का और मूल भाग से पितरों का तर्पण करना चाहिए। प्रतिवर्ष भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों एवं कोने-कोने से, प्रत्येक दिशाओं से आये हुए पाँच-छः लाख से अधिक सनातन धर्मावलम्बियों द्वारा यह यज्ञ सम्पन्न किया जाता है। तर्पण की विधि हमेशा फल्गु नदी में सम्पन्न की जाती है। इसका निरीक्षण एक आचार्य द्वारा होता है। तर्पण लगभग पाँच घटो तक होता है और उसके चार मुख्य भाग होते हैं। पहले भाग में जो देव-तर्पण कहलाता है। जल को दाहिने हाथ में लेकर उसे खुली हुई अंगुलियों पर गिराना पड़ता है। उसी समय ब्रह्मा, विष्णु,

शिव तथा विश्वभर के देवताओं के लिए विशेष श्लोक पढ़े जाते हैं। दूसरे भाग में मरीचि, अग्नि अंगिरस, पुलस्त्य, क्रतु, पुलह, गौतम, कश्यप, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र नामक दस प्राचीन ऋषियों के लिए तर्पण किया जाता है। ऋषि-तर्पण में पिण्ड देने वाला पूर्व की ओर मुँह करता है। और यही विधि देव-तर्पण के समय भी की जाती है। परन्तु जल केवल आगे की अंगुलियों से ही गिराया जाता है। तीसरे भाग में तर्पण यम तथा उसे गणक चित्रगुप्त को अर्पित किया जाता है। यम स्वर्ग और नरक का स्वामी है और चित्रगुप्त मरने वालों के कर्मों का विवरण रखते हैं। यम और चित्रगुप्त को तर्पण इसलिए अर्पित किया जाता है कि मरे हुए पूर्वजों के साथ कुछ रियायत करें। अन्तिम तर्पण सब पितरों के नाम से दिया जाता है। अन्त में, सभी दिशाओं एवं देवताओं की वन्दना कर अग्रलिखित मन्त्र से तर्पण-कार्य भगवान् सूर्य को समर्पित कर देना चाहिए।

नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे।  
जगत्सवित्रे शुचये सवित्रे कर्मदायिने॥

जब कोई पिण्डदान देने वाला श्राद्ध के लिए प्रसिद्ध मूर्ति, पत्थर तथा पेड़ वाले किसी धार्मिक केन्द्र में जाता है, तो उसे वहाँ पिण्डदान करना पड़ता है, परन्तु जब वह तालाब वाले धार्मिक केन्द्र में जाता है, तो उसे तर्पण की विशेष विधि करनी पड़ती है। (वायु पुराण/ अ० 102, नं० 28, 30) श्राद्ध-बलि करने वाला तर्पण करने के लिए अनेक तालाबों में भी जाता है। उनमें वैतरणी का विशेष महत्व है। पौराणिक दन्त-कथा के अनुसार वैतरणी उस नदी का प्रतीक है, जो पृथ्वी और स्वर्ग के बीच प्रवाहित होती है। अतः वैतरणी में तर्पण एवं स्नान करने से पूर्वजों को नरक की यातना से मुक्ति मिलती है। राम ने अपने पिता दशरथ के लिए गया-श्राद्ध

किया था। यहाँ सीता कुण्ड में तर्पण तथा राम के मन्दिर में पिण्डदान किया जाता है। तर्पण एवं पिण्डदान दूसरे-दूसरे धार्मिक केन्द्रों में भी किया जा सकता है। जो करीब 45 की संख्या में है। इसे भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति एवं सुख की प्राप्ति के निमित्त किया जाता है। (विष्णुसूत्र/अ०72 नं० 1,7, 36, 49) यहाँ के श्राद्ध में पितरों के पूजन से साक्षात् भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं। श्रद्धा पूर्वक किए जाने के कारण ही इसका नाम श्राद्ध पड़ा है। पण्डित नन्द के अनुसार- 'पितरों के उद्देश्य से श्रद्धा एवं आस्तिकता पूर्वक पदार्थ त्याग का नाम श्राद्ध है।' अतः ज्ञानी पुरुष सारे प्रयत्नों से श्राद्ध का अनुष्ठान करते हैं।

**आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गमोक्षसुखानि च।**

**प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीताः नृणां पितामहाः।'**

पितर लोग श्राद्ध से तृप्त होकर, आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, राज्य एवं अन्य सभी प्रकार के भाँति-भाँति सुख प्रदान करते हैं। सनातन संस्कृति में श्राद्ध न करना एक बुरी बात समझी गयी है। श्राद्ध न करने वाले व्यक्तियों के विषय में 'पृथ्वीचन्द्रोदय' में उल्लेख किया गया है कि- 'जहाँ श्राद्ध नहीं होता वहाँ न तो वीर पुरुष उत्पन्न होते हैं और न नीरोग होते हैं और न शतायु ही होते हैं। ऐसे लोगों को कल्याण की प्राप्ति भी नहीं होती।'

पद्म-पुराण के सृष्टिखण्ड के 11 वें अध्याय में उल्लेख किया गया है कि पिता का श्राद्ध पुत्र को ही करना चाहिए। पुत्र न हो तो स्त्री श्राद्ध करें। पत्नी के अभाव में सहोदर भाई और उसके भी अभाव में सपिण्डों को श्राद्ध करना चाहिए। 'कर्मपुराण' के 34 वें अध्याय में यह स्पष्ट

उल्लेख किया गया है कि परमगुप्त गया तीर्थ में श्राद्ध कर्म करने से पितर लोगों का पृथ्वी पर पुनरागमन नहीं होता है।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि 'श्राद्ध' में श्रद्धा भक्ति का स्थान सर्वोपरि है। पूर्वज पितर अपने वंशजों से श्रद्धा, भक्ति और विश्वास के आकांक्षी होते हैं। पितृपक्ष में तो उनकी यह आकांक्षा और अधिक तीव्र हो जाती है। इसीलिए, पितृपक्ष में पितृ यज्ञ करना प्रत्येक गृहस्थ के लिए है। इसका परिणाम केवल परमाराध्य पितरों की संतुष्टि और तृप्ति नहीं है, बल्कि पितृपक्ष में श्राद्ध आदि के कर्त्ता को भी विशिष्ट फल की प्राप्ति अनिवार्य रूप से होती है। साथ ही उसे आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक सुख भी उपलब्ध होता है।

यह गया नगरी मात्र वैष्णव संस्कृति का ही केन्द्र नहीं है। यहाँ शैव एवं शाक्त धर्मों का भी सुन्दर समन्वय है। यहाँ पितामहेश्वर मन्दिर है, जहाँ श्रद्धालु भक्तजन मन से भगवान् शिव की पूजा और अर्चना करते हैं और पर्वतेश्वर मंगला गौरी मन्दिर एवं बगलास्थान में जाकर शक्ति की उपासना करते हैं। इस तरह, यह वैष्णव, शाक्त और शैव धर्मों का 'गया धाम' में मणिकांचन सद्भाव है। प्रत्येक धर्मानुयायी आकर यहाँ शैव एवं शाक्त धर्मों की सांस्कृतिक चेतना में ओतप्रोत होकर अक्षयवट की पूजा कर अपने जीवन में अक्षयता को प्राप्त कर पुलकित और प्रसन्न होता है। अतः हमारी भारतीय संस्कृति जितनी उदार, व्यापक अखण्ड और सर्वजन सुलभ है। इसका स्पष्ट आभास हमें दिलाती है।

## सांस्कृतिक कवयित्री महादेवी की रहस्यानुभूति

डॉ० विनोद कुमार सिन्हा

प्रत्येक पदार्थ में चेतना का बोध छायावाद है और इस चेतना के साथ विश्व-चेतना के ऐक्य की अनुभूति रहस्यवाद है। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में जब बंगला और अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी में छायावाद का प्रचलन हुआ तब इनकी आलोचना और प्रत्यालोचना के प्रसंग में 'रहस्यवाद' शब्द का भी व्यवहार प्रारम्भ हुआ। इस समय में विश्व-साहित्य में कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि की

जोरदार चर्चा हुई और विदेशी विद्वानों ने 'गीताञ्जलि' को 'मिस्टिक' कहा और इस प्रकार के काव्य की विशेषताओं को 'मिस्टिज्म' कहा जाने लगा। 'रहस्यवाद' इसी शब्द का हिन्दी अनुवाद है। परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि 'रहस्यवाद' कोई नई वस्तु नहीं। इसका वर्णन हमारे वेद और उपनिषद में प्रचुर मात्रा में है। कवि या कवयित्री तो भावुक होते ही हैं और भावुकता के कारण इनलोगों के जीवन में कतिपय आध्यात्मिक क्षण आते हैं। बहिरंग जीवन से सिमटकर जब कवि की चेतना अन्तरंग में प्रवेश करती है तो कुछ बौद्धिक जिज्ञासायें जीवन और मरण सम्बन्धी,

प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी, आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी बातें भी अनुभव में आती हैं और यही अनुभूति रहस्यानुभूति है। इस तरह रहस्यवाद का उदय वाह्यार्थ प्रधानता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। इसमें

हिन्दी काव्य जगत् में छायावाद की कवयित्री महादेवी वर्मा के काव्यों में सहज अवतरित रहस्यानुभूति का स्रोत हमारी प्राचीन विचारधारा रही है। वेदों, उपनिषदों और पौराणिक कथाओं के शिल्पों में भी यह रहस्यानुभूति अनेक रूपों में आयी है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में महादेवी वर्मा के काव्य-चिन्तन की धारा पर विवेचन प्रस्तुत है।

— सं०

चित्तवृत्ति वाह्य जगत् से हटकर अन्तर्मुखी और अन्तर्विशिष्ट हो जाती है। दर्शनों में परोक्ष-सत्ता के ज्ञान की उपलब्धि स्वानुभूति द्वारा

होती है। यह स्वानुभूति नितान्त वैयक्तिक होती है। इसी कारण रहस्यवादी अनुभूति को भी अन्तःपरक कहा गया है। आत्मा अपनी भीतरी उड़ानों में दृश्य और व्यक्त जगत् का सम्बन्ध अदृश्य और अव्यक्त के साथ करती है और यह रहस्यवाद की एक सर्वसम्मत विशेषता है।

रूप और भाव, पदार्थ और भावार्थ, सत्य और सौंदर्य शिव और शक्ति तथा आत्मा और परमात्मा का साम्य ही भारतीय संस्कृति का मूल रहस्यमय सूत्र है। भावात्मक, सृजनात्मक एवं चिन्तनात्मक साम्य-सन्तुलन से समन्वित समृद्ध संस्कृति

मानव-जीवन के विकास का अनिवार्य अंग और महत्त्वपूर्ण मूल्य है।

महादेवी जी सांस्कृतिक कवयित्री थी और वेद एवं उपनिषद् के सम्बन्ध में इनके गहन अध्ययन, भगवान् बुद्ध के प्रति भक्तिमय अनुराग, महात्मा गाँधी तथा कवीन्द्र रवीन्द्र का साहचर्य ये सभी तत्व मिलकर महादेवीजी को एक दार्शनिक तथा रहस्यवादी कवयित्री बना दिया था।

‘रहस्यवाद’ का प्रारंभिक रूप वेदों में मिलता है। ऋग्वेद में अज्ञात सत्ता के साथ मानवीय सम्बन्ध स्थापित किये गये हैं—

**स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।**

**सचस्वा नः स्वस्तये।।**

(ऋ० 1।1)

अर्थात् वे स्तुत्य अग्नि हमारे पिता के समान हमारे कल्याण के लिए उपहार देनेवाले बनें।

महादेवजी ने अपने पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश एवं दार्शनिकता की भूमिका के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है:—‘एक ओर साधना और आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की सांप्रदायिकता से दूर कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया इसमें भावुकता बुद्धि के कठोर धरातल पर, साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर और आस्तिकता एक सक्रिय किन्तु किसी वर्ग या संप्रदाय में न बँधनेवाली चेतना पर ही स्थित हो सकती है।’ वेद और उपनिषद् का इन्होंने कितना विशद अध्ययन किया था इसकी जानकारी वेद के सम्बन्ध में इनकी निम्नांकित दो विवेचनाओं से मिलती है:—

‘मनुष्य की प्रज्ञा की जैसी विविधता और इसके हृदय की जैसी रागात्मक समृद्धि वेद-साहित्य में प्राप्त है, वह न तो मनुष्य को एकांगी दृष्टि दे सकती है, न अन्धविश्वास, आकाश के अखण्ड विस्तार में केन्द्रित दृष्टि के लिए घट की सीमा में प्रतिविम्ब आकाश ही अन्तिम सत्य कैसे हो सकता है? वैदिक चिन्तक की तत्त्व-स्पर्शी दृष्टि सृष्टि की आसीम विविधता को पार कर एक तत्त्वगत सूत्र खोज लेती है।’

‘इस बुद्धिवाद के युग में भी मुझे जिस अध्यात्म की आवश्यकता है, वह किसी रुढ़ि, धर्म या सम्प्रदायगत न होकर इस सूक्ष्मता की परिभाषा है जो व्यक्ति की संप्राणता में समष्टिगत एक प्राणता का आभास देती है। इस प्रकार वह मेरे सम्पूर्ण जीवन का ऐसा सक्रिय पूरक है, जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जगा सकता है।’

विद्वानों ने रहस्यवाद को 6 भागों में विभक्त किया है:—(1) सौन्दर्य रहस्यवाद (2) भक्तिपरक रहस्यवाद (3) दर्शनपरक रहस्यवाद (4) प्रकृति-रहस्यवाद (5) प्रेम रहस्यवाद और (6) शिशु-रहस्यवाद।

महादेवीजी के काव्य में सम्पूर्ण रहस्यवाद की झलक मिलती है। महादेवीजी की काव्य रचना ‘नीहार’ में सौंदर्य रहस्यवाद एवं प्रकृति रहस्यवाद की संयुक्त अनुभूति देखें:—

आँखों में रात बिता जब । विधु ने पीला मुख फेरा,  
आया फिर चित्र बनाने । प्राची में प्रात चितेरा।  
कन-कन में जब छाया थी, वह नवयौवन की लाली,  
मैं निर्धन तब आयी ले, सपनों से भर कर डाली।

हमारे प्राचीन ग्रन्थ उपनिषदों में काव्य-दर्शन तथा रहस्यवाद से भरे पड़े हैं। बाद में रहस्यवाद कुछ न्यून हो गया। महादेवीजी ने अपने काव्य में इसकी पुनरावृत्ति की। परन्तु इन्होंने वेदान्त एवं उपनिषद् के प्रभाव में अपने स्वतन्त्र चिन्तन का परित्याग नहीं किया। उपनिषद् के सुख-दुःख समन्वय को साधना का स्वरूप नहीं मानकर व्यापक सत्य के रूप में ग्रहण किया:-

छिपाकर दूर में निकट प्रभात,  
गहनतम होती पिछली रात।  
सघन वारिद अम्बर से छूट,  
सफल होते जलकण में फूट।

शैशवावस्था से ही महात्मा बुद्ध के प्रति वे आकर्षित तथा अनुरक्त रहीं। इन्हें यह प्रतीत हुआ कि गौतम बुद्ध का सांस्कृतिक व्यक्तित्व युग-युग का अन्तराल पार कर बराबर इनके अन्तःकरण में विद्यमान वेदना और करुणा के भाव को जगा रहा है। गौतम बुद्ध के 'शून्यवाद' से वे बहुत प्रभावित रहीं। बुद्ध के गहन चिन्तन के अध्ययन के बाद इनके साहित्य में इससे सम्बद्ध निर्वाणदुःख, वेदना आदि शब्द आये हैं। शून्यवाद की महत्ता देखें:-

गौतम बुद्ध के साथ-साथ स्वामी विवेकानन्द ने भी 'शून्यवाद' की परिभाषा दी थी। शून्य ही पूर्ण है, इसका योगफल, गुणनफल सभी पूर्ण है। उपनिषदों में पूर्ण जगत के रूप में ही ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है:-

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।  
पूर्णस्य पूर्णमादाय, पूर्णमेवावशिष्यते।।

महादेवी जी की द्वितीय कृति 'रश्मि' में

बौद्ध दर्शन का स्पष्ट प्रभाव पाया गया है, आत्मा, प्रकृति और परमात्मा की अन्तर्हित एकता ही 'रश्मि' का मूलाधार है और यही महादेवी की रहस्यानुभूति है:-

दूर है अपना लक्ष्य महान,  
एक जीवन पग एक समान।  
अलक्षित परिवर्तन की डोर,  
खींचती हमें इष्ट की ओर।।  
फिर-सृष्टि का है यह अमित विधान,  
एक मिटने में सौ वरदान।  
नष्ट कब अणु का हुआ प्रयास,  
विफलता में है पूर्ति विकास।।

1933 में प्रयाग में ही महादेवी जी को कवीन्द्र रवीन्द्र से भेंट हुई। 1935 में शान्तिनिकेतन भी गई। कवीन्द्र रवीन्द्र को समीप से देखते का, इनके जीवन-दर्शन को अपना कर अपने काव्य दर्शन में ढालने का इन्हें उपयुक्त अवसर मिला। आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध सूत्र की ब्यंजना में, आत्मसमर्पण के प्रति आस्था में तथा अनन्त प्रिय की अग-जग व्यापी व्यक्तित्व की स्वीकृति में महादेवी जी कवीन्द्र रवीन्द्र से बहुत प्रभावित रहीं। कवीन्द्र रवीन्द्र के दर्शन और महादेवी जी के दर्शन में केवल इतना ही अन्तर था कि कवीन्द्र रवीन्द्र प्रत्यक्ष आनन्द का महत्त्व देते थे और महादेवी दुःख के माध्यम से इसी आनन्द का चित्रण करती थी।

ऋग्वेद की एक ऋचा है:-

आयद् रूहाव वरूणस्य नावं,  
प्रयत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।  
अमियदपांस्तुभिश्चराव,

प्र पेंख ईश्वयावहै शुभेकम् ।।

अर्थात् दोनों परम सखा अनन्त समय पूर्व एक ही नाव पर एक साथ बैठे थे। वह दिव्य नाव अथाह सागर की लहरों में झुकती थी। ईश्वर ने बड़ी अनुकंपा से अपने संगीजीव को इषाबेला में संगीत का आमंत्रण दिया था।

जिस प्रकार प्राचीन काल में ऋषियों और मनीषियों ने आत्मा और परमात्मा दोनों को एक नाव पर बिठाकर अनन्त काल यात्रा की परिकल्पना की है ठीक इसी तरह महादेवीजी ने कवीन्द्र-रवीन्द्र के महाप्रस्थान के अवसर पर दर्शनपरक रहस्यवाद को प्रस्तुत किया है:-

सौंप दी वह वीणा इसने रिक्त कर ली आज झोली।

सब लुटाकर सिद्धियाँ पुलकित करों से नाव खोली।।

मत कहो निष्पन्द तम है,

वह अमर तट चिर अगम है।

प्राण में संकल्प इसकी,

भृकुरियों पर दीप्त श्रम है।

बंधनों की चाह से वह मुक्ति पथ में भी दुकेला

अजर वरदानी अतिथि की

यह विदा-वेलों अमर वेला।

महादेवी जी के काव्य में जो रहस्यानुभूति है इस पर भारतीय दर्शन की रहस्य भावना तथा उपनिषदों के रहस्यवाद की सारी सामग्रियाँ सुनियोजित रूप में मिल जाती है।

महादेवी जी की रचना में मध्यकालीन सन्तों और सूफियों की तरह अव्यक्त सत्ता को प्रियतम रूप में स्वीकार किया गया है। जीवननिष्ठा, आध्यात्मिक

आस्था और व्यापक सौंदर्यबोध के माध्यम से महादेवी जी ने 'नीरजा' के गीतों में जिस रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त किया है—वह भावात्मक रूप से अधिक सार्थक बन पाया है:-

मुस्काता संकेत भरा नभ,

अलि क्या प्रिय आनेवाले हैं?

सघन वेदना के तम में सुधि

जाती सुख सोने के कण भर,

सुरधनु नव रचतीं निश्वासें

स्मित का इन भीगे अधरों पर,

आज आँसुओं के कोषों पर स्वप्न बने पहरे वाले हैं।

वेद में पक्षियों और वृक्ष के रूप कों द्वारा अनुरक्त आत्मा और निर्लिप्त परमात्मा का सम्बन्ध व्यक्त किया गया है:-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,

समानं वृक्षं परिषस्व जाते।

तयोरेकं पिप्पलं स्वाद्वत्ति,

अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

ठीक इसी तरह महादेवी जी ने 'दीपशिखा' में जीवात्मा अपने वैयक्तिक स्तर से ऊपर उठकर सर्वव्यापी आत्मा के रूप में विकसित होती है और परमात्मा से मिलकर असीम प्रेम प्राप्त करती है।

दीप और फूल की साधना में भले ही भिन्नता हो परन्तु दोनों का आत्मोसर्ग एक है। यहाँ पर महादेवी जी ने दीप और फूल को प्रतीक रूप में दिखाया है। दीप आलोक लुटाता है और फूल अपना सौरभ बिखेरता है—दोनों एक ही पथ के संगी हैं:-

सब आँखों के आँसू उजाले,

सबके सपनों में सत्य पला।



जिसने इसको ज्वाला सौंपी,  
इसने इसमें मकरन्द भरा।।  
आलोक लुटाता वह घुल-घुल,  
देता यह झर सौरभ बिखरा।  
दोनों संगी पथ एक किन्तु  
कव दीप खिला, कव फूल जला।।

महादेवी जी की रहस्यानुभूति आज विशेष प्रासंगिक है। आज से संघर्ष प्रधान आर्थिक युग में द्वेष, ईर्ष्या, कलह आदि दुर्वृत्तियों ने मानवता को विखण्डित कर दिया है। महादेवीजी की रहस्यानुभूति ने प्रेम और सद्वृत्तियों के एकान्त प्रसाद द्वारा असद्वृत्तियों उन्मूलन ही नहीं—अखण्ड मानवता की उपासना भी की है। भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परंपरा का वैदिक काल में ही पर्याप्त प्रौढ़ विकास हो चुका था। वेदान्त में इस सांस्कृतिक उपलब्धि की व्याख्या की गई—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है इसमें ईश का आवास है। ऐसे तत्त्वदर्शी के लिए सबमें व्याप्त एक परम सत्य की सत्ता ही इस विश्व को सत्य बनाती है। इस आन्तरिक और आध्यात्मिक अनुभूति की स्थिरता पर पहुँचकर जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थों में एक ही आत्मा की व्याप्ति का अनुभव करता हुआ निरन्तर आत्मा का ही साक्षात्कार करता है, इसे किसी प्रकार का शोक, मोह, नहीं होता है वह किसी से विद्वेष और घृणा भी नहीं कर सकता:-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।

महादेवी जी ने अपनी कविता में इसी

अद्वैतवादी दृष्टिकोण की व्याख्या की है:-

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,  
मधुर राग तू मैं स्वर संगम,  
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,  
काया छाया में रहस्यमय।

प्रेयसि प्रियतमा का अभिनय क्या?

तुम मुझमें प्रिय! फिर परिचय क्या?

प्रस्तुत पंक्तियों में आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य की भावना दर्शायी गई है। महादेवीजी की रहस्यानुभूति के कलापक्ष पर अगर विचार करेंगे तो महादेवी जी के काव्य की शैली छायावादी नजर आयेगी और भाषा चित्रमयी लगेगी। सांकेतिकता, प्रतीक योजना, लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और अद्वैतवादी दृष्टि ही महादेवी जी के काव्य की संपत्तियाँ हैं।

रहस्यानुभूति की ध्वनि निकलने वाली वीणा अचानक 11 सितम्बर 1987 की रात्रि में मूक बन गई। गालिब ने कहा था—

‘कतरा दरिया में मिल जाए तो दरिया हो जाए’

आज एक कतरा दरिया में ही नहीं मिला सम्पूर्ण दरिया को अपने में विलीन कर दिया। कतरा असीम हो गया—पूर्ण हो गया। यही इसके जीवन की पूर्णता थी। आज वीणा मूक हो गई और वीणावादिनी अन्तर्धान हो गई।

वीणा होगी मूक, बजाने

वाला होगा अन्तर्धान,

विस्मृत के चरणों पर आकर

लौटेंगे सौ-सौ निर्वाण

ग्रा०+ पो०— बेलाही,  
द्वारा— अथरी  
जिला— सीतामढी  
पिन— 843311

## परनिन्दा सम अघ न गरीसा

- प्रो० रामविलास चौधरी

सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य न केवल अपने सुख-दुःख से सुखी एवं दुःखी होता है, अपितु, दूसरे के भी सुख एवं दुःख से प्रसन्नता और पीड़ा को अनुभव करता है। दोनों स्थितियों में वह इष्ट बन्धुओं से भागीदारी निभाता है एवं यथासम्भव सहयोग भी करता है। सहृदय पुरुष दूसरे के कष्ट को सुनकर या देखकर स्वभावतः द्रवीभूत हो जाते हैं तथा तन-मन-धन से दुःखी व्यक्ति

की सहायता करने को तत्पर हो जाते हैं। वे दूसरों की भलाई किसी क्षुद्र स्वार्थ या हित को ध्यान में रखकर

मनोविज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि किसी व्यक्ति की कोई कमजोरी, कोई घुटन दूसरे की निन्दा के रूप में फूट पड़ती है; वह दूसरे की निन्दा कर अपने अहंकार को झूटी तसल्ली देने लगता है, जो बाद में एक प्रकार का मनोरोग बन जाता है। भारतीय परम्परा में भी परनिन्दा को त्याज्य माना गया है। इस सन्दर्भ में प्रो० रामविलास चौधरी की लेखनी से एक विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

नहीं करते, अपितु स्वाभाविक सद्भावना या आत्म-परितोष अथवा सामाजिक दायित्व-निर्वाह के लिए ही करते हैं। उनमें अपने स्वार्थ के त्याग की भावना भरी होती है। ऐसी त्यागी पुरुष समाज में सम्मान के पात्र होते हैं। त्याग का महत्त्व समाज में पुरातन काल से रहा है और आज भी है। मुनि दधीचि, राजा हरिश्चन्द्र तथा शिवि की ख्याति आज भी उनके अतुलित त्याग के कारण ही है। गोस्वामी तुलसीदास उन्हें दानी की कसौटी मानते हैं-

**शिवि दधीचि हरिचन्द्र समाना।**

शंकरजी देवों में महान् देव या महादेव

इसलिए कहे गए क्योंकि वे त्याग की प्रतिमूर्ति हैं उन्होंने अपने रहने के लिए कुटिया भी नहीं बनायी, श्मशानवासी बने रहे, किन्तु आराधकों को धन-वैभव या मनोवांछित फल उदार भाव से देते रहे। इसी कारण वे देव-दानव-मानव इन सभी के आराध्य बने रहे। रावण और बाणासुर आदि ऐसे असंख्य उदाहरण हैं। समुन्द्र-मन्थन से प्राप्त विष की ज्वाला से जब चर-अचर जीव

जलने लगे तो देव-दानवों की प्रार्थना सुनकर महेश्वर ने ही उसका पान कर जगत् की रक्षा की। इसी पर एक कवि ने कहा-

**मान सहित विष**

**खाइ के शम्भु भये जगदीश**

**विना मान अमृत पिये राहु कटायो शीश॥**

स्पष्ट है कि परोपकार के लिए तत्पर व्यक्ति सदा सर्वत्र सम्मान का पात्र होता है, जबकि स्वार्थवश महती उपलब्धि का भी आकांक्षी जन अधम ही कहलाता है। स्वार्थी व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी भी नीचता पर उतर आता है, किन्तु उस स्वार्थी से भी अधिक अधम वह है तो अकारण ही दूसरों का प्राण तक ले लेता है, निर्दोष लोगों की हत्या करने में जरा भी संकोच नहीं होता। इस दृष्टि से महान् चिन्तक भर्तृहरि लोगों की चार कोटियाँ बनाते हुए कहते हैं-

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं समुत्सृज्य ये  
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।  
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय विघ्नन्ति ये  
ये तु ध्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

अर्थात् प्रथम या उत्कृष्ट कोटि के वे सज्जन अथवा सत्पुरुष हैं जो अपने हित का त्याग कर दूसरे की भलाई में लगे रहते हैं। सामान्य कोटि के लोग दूसरे के उपकार में रुचि तो रखते हैं, किन्तु अपनी हानि से बचते रहते हैं। तीसरी कोटि के लोगों को मनुष्यों में राक्षस कहा गया है जो अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरे के हित का हनन करते हैं। चौथी कोटि के व्यक्ति वे हैं जो बिना किसी प्रयोजन के व्यर्थ ही निर्दोष लोगों के जन-धन का विनाश कर देते हैं। भर्तृहरि जैसे लोगों का नामकरण भी नहीं करते और कहते हैं कि उन्हें क्या पुकारा जाय? यह हमें भी मालूम नहीं।

आज के सन्दर्भ में जैसे लोगों को आतंकवादी कहा जाता है जो मात्र दहशत फैलाने के लिए बहुसंख्य जनों को हताहत कर देते हैं। ऐसे दुष्कृत्य में उन आतंकवादियों के किसी हित की सिद्धि होती है, ऐसा तो नहीं लगता, किन्तु ऐसी घटनाओं में असंख्य निरपराध लोग अपना धन तो गँवा ही देते हैं, वे घायल भी हो जाते हैं तथा उनके प्राण तक चले जाते हैं। ये आतंक फैलाने वाले कुण्ठा से ग्रस्त होते हैं तथा कृत्य-अकृत्य के विवेक से रहित भी। उन्हें जीवन में कभी चैन नहीं मिलता। आत्मा भी धिक्कारती रहती है तथा सभ्य समाज में वे घृणा के पात्र बन जाते हैं। ऐसे लोग कभी भीतर से प्रसन्न नहीं रह सकते। अपराध बोध तो उन्हें होता ही होगा। ऐसे दुष्टों के सम्पर्क से नरक की यातना ही भली है। जैसा कि 'मानस' में कहा गया है-

वरु भल वास नरक कर ताता।

दुष्ट संग जनि देइ विधाता॥

मानस 5/46/4

'रामचरितमानस' का उत्तरकाण्ड विषय-विवेचन की दृष्टि से बहुत ही गम्भीर एवं लोकोपयोगी है। इस काण्ड के अन्तिम भाग में सात प्रश्नों के उत्तर की जिज्ञासा पक्षिराज गरुड़ अद्वितीय भक्ति-मर्मज्ञ काक-भुशुण्डि से करते हुए कहते हैं-

‘सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी’॥

ये सात प्रश्न बड़े ही महत्त्व के तथा लोकोपयोगी हैं। इन प्रश्नों में संसार के अन्तर्गत होने वाले सबसे बड़े सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि की जिज्ञासा की गई है। काकभुशुण्डिजी ने इनका बड़ा ही संक्षिप्त किन्तु सारयुक्त एवं हृदयस्पर्शी उत्तर दिया है। इनके विचार में सबसे बड़ा दुःख दरिद्रता है, जबकि सबसे बड़ा सुख सन्तों या सज्जनों का मिलन है। वेदों तथा विविध धर्म प्रचारकों ने अहिंसा को परम धर्म कहा है, जबकि परनिन्दा के समान दूसरा कोई बड़ा पाप नहीं है-

नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं

संत मिलन सम सुख दुख जग नहिं

परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा

पर निंदा सम अघ न गरीसा।

मानस 121

उपरि वर्णित दुःख और सुख का परिणाम-जन्य अनुभव भोक्ता को प्रत्यक्षतः होता है। वह स्वाभावतः इनसे छुटकारा और प्राप्ति के लिए सचेष्ट भी रहता है। किन्तु धर्म और पान की प्राप्ति का प्रत्यक्षतः अनुभव नहीं होने से इनके विषय में अनेक मत-मतान्तर हैं। उत्तरकाण्ड

में ही श्रीरामचन्द्र सन्त-असन्त के भेदों के वर्णन के सन्दर्भ में भरत से कहते हैं कि दूसरों की भलाई के समान कोई धर्म नहीं है तथा दूसरों को दुःख पहुँचाने जैसा कोई पाप (नीचता) नहीं है-

आगे वे कहते हैं- इस बात को केवल मैं नहीं कह रहा हूँ, अपितु सभी पुराणों और वेदों का यह निर्णय या निश्चित मत है। इस तथ्य को पण्डित लोग भी जानते हैं-

निर्णय सकल पुरान वेद करा।

कहेउँ तात जानहि कोविद नर॥

गोस्वामीजी के इस मत पर पुराणों में व्यास द्वारा प्रतिपादित उस सिद्धान्त या वचन का स्पष्ट प्रभाव है अथवा यह कहना अनुचित नहीं होगा कि उसका यह छायानुवाद है, जिसमें कहा गया है-

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।

परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अस्तु, यहाँ हम 'परनिन्दा' पर कुछ अधिक प्रकाश डालना चाहेंगे क्योंकि किसी की निन्दा करने या सुनने में स्वाभाविक रुचि लोगों में होती है, वैसी प्रसन्नता किसी की प्रशंसा सार्वजनिक रूप में करने या सुनने में नहीं होती है। सभा में वक्ता द्वारा किसी की प्रशंसा किए जाने पर सामान्य जन वैसी हामी नहीं भरते जैसा कि किसी की निन्दा या आलोचना को सुनकर भरपूरी ताली बजाकर आनन्दित होते हैं।

ऋषियों और मुनियों की पवित्र भूमि इस भारत वर्ष में पुण्य और पाप की बहुत सी जानकारी बचपन से ही संस्कारवश या परिवेश के कारण होने लगती है। किन्तु उसके आचरण के प्रति कितनी प्रवृत्ति हो पाती है? यह महान् प्रश्न उठ खड़ा हो जाता है। कौन नहीं जानता कि सत्य

बोलना, दान देना, धैर्य रखना, क्षमा कर देना तथा दया दिखाना आदि अच्छे कार्य धर्म हैं। दूसरी ओर झूठ बोलना, दूसरे का धन हड़प लेना, किसी को दुःख पहुँचाना तथा चोरी करना आदि बुरे कर्म पाप हैं। तथापि जानबूझ कर भी अच्छे कार्यों में प्रवृत्ति तथा बुरे कार्यों से निवृत्ति कितने लोगों को हो पाती है? पाण्डव-गीता में दुर्योधन श्रीकृष्ण से कहता है-

जानामि धर्म न च मे प्रवृत्तिः

जानाम्यधर्म न च मे निवृत्तिः।

केनापि देवेन हृदि स्थितेन

यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात् मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं है। अधर्म को भी मैं जानता हूँ, किन्तु उससे मेरी निवृत्ति नहीं है। दुर्योधन का यह कथन प्रायः अधिकांश मनुष्यों की भावना को व्यक्त करता है। अच्छे कर्मों की जानकारी रखना अलग बात है तथा उसका आचरण करना उससे भिन्न है। इसलिए कहा गया है कि क्रिया (सदाचरण) करने वाला ही वास्तव में विद्वान है

यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।'

इसी कारण गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञानी से अधिक श्रेष्ठ योगी को बताया है - 'ज्ञानिभ्योऽधि को योगी।' ज्ञानी तो ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु उस ज्ञान के अनुसार आचरण भी करता हो, यह आवश्यक नहीं, जबकि योगी को क्रियाशील रहना पड़ता है। क्रिया के बिना ज्ञान को भार ही कहा गया है-

ज्ञानं भारः क्रियां बिना।'

शास्त्रों में मनुष्य को षड् रिपुओं (काम,

क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर) से ग्रस्त नहीं होने तथा उन पर विजय प्राप्त करने का संदेश दिया गया है। दूसरों की निन्दा करने वाले लोगों में आवश्यक रूप से मद (अहंकार) तथा मत्सर (ईर्ष्या) की प्रवृत्ति पायी जाती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि निन्दक व्यक्ति निश्चय ही अहंकारी और ईर्ष्यालु होता है। अहंकारी का विनाश अवश्यम्भावी है तथा ईर्ष्यालु व्यक्ति कभी चैन से या प्रसन्न नहीं रह सकता है। ऐसे लोगों के प्रति सज्जन या आमजन भी सद्भावना नहीं रखते। उसका कोई अपना भी नहीं हो सकता। अप्रसन्न व्यक्ति स्वस्थ भी नहीं रहता। अस्वास्थ्य के कारण लौकिक सफलता तथा पारलौकिक सुख से भी वह वञ्चित रह जाता है। उसकी प्रतिष्ठा न लोक में होती है और न परलोक में ही। ऐसे व्यक्ति की जीवन अन्ततः नरक बन जाता है जो महान् पाप के परिणाम स्वरूप भोगना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति से किसी का उपकार भी नहीं हो पाता। वह अधम नर माना जाता है। ऐसे पतित मनुष्य को 'पशु' कहना भी सहन नहीं होता राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को। वे इसका कारण बताते हुए कहते हैं-

करते हैं हम पतित जनों में

बहुधा पशुता का आरोप।

करता है पशु वर्ग किन्तु क्या?

निज निसर्ग नियमों का लोप।

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ।

किन्तु पतित को पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ।

वास्तव में ये पशु मानव मात्र का हित करते हैं, किन्तु किसी की निन्दा तो नहीं करते, फिर निन्दक जन इन पशुओं से श्रेष्ठ कैसे माने जा सकते हैं?

दूसरी ओर भर्तृहरि ने सज्जनों से कठिन व्रत के सन्दर्भ में कहा है कि वे दूसरों की चर्चा में निन्दा को गन्ध भी नहीं आने देते हैं:-

‘अनभिगन्धाः परकथाः।

नीतिशतक-64

इसके विपरीत दुष्टों के लक्षण में उन्होंने असहिष्णुता या ईर्ष्या को प्रमुख बताया है- ‘स्वजनवन्धुजनेष्वसहिष्णुता’ (नीति 52)। इतना ही नहीं, उनके मत में जिस भक्ति में पिशुनता या परदोष-सूचकता है, उसे अन्य पापों से क्या प्रयोजन- ‘‘पिशुनता यद्यस्ति कि पातकैः (नीति 55)

इस प्रकार स्पष्ट है कि भर्तृहरि के मत में सभी पापों से बढ़कर परनिन्दा ही है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि गोस्वामी तुलसीदासजा भक्त प्राचीन मनीषी भर्तृहरि के मत से प्रभावित हैं। दोनों के मत में परनिन्दा से बड़ा कोई पाप नहीं है। इनसे उपदेश प्राप्त होता है कि हमें इस परनिन्दा दोष से सदा बचना चाहिये। इसके लिए किसी प्रकार का आर्थिक न्यय अथवा अन्य कोई कठिनाई भी नहीं है। केवल मानसिक संयम तथा वाणी पर नियन्त्रण या धैर्य आवश्यक है। धर्म के जो दस लक्षण धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं लक्षणम् बताये गये हैं। उनमें प्रथम धैर्य ही है। अतः दृष्टि से भी परनिन्दा से बचने का धैर्य रखना मानव-जीवन में बहुत आवश्यक है। इससे चरित में विकास तथा अभ्युदय की प्राप्ति होती है।

सन्त जन दूसरों की निन्दा से बचने के साथ गुणी मनुष्यों के गुणों के विस्तार से कथन करते हैं, किन्तु ऐसे जन बहुत नहीं होते हैं।

उनकी संख्या बहुत कम होती है।

भर्तृहरि कहते हैं:-

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-  
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।  
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं  
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥  
(नीतिशतक 79)

अर्थात् मन, वचन और शरीर में पुण्यकर्मरूपी अमृत से परिपूर्ण, अनेक प्रकार के उपकारों से तीनों लोकों को प्रसन्न करते हुए तथा दूसरे के परमाणु मात्र सूक्ष्म गुणों को पर्वताकार रूप में विस्तार से वखान करने वाले तथा अपने मन में सदा प्रफुल्लित रहने वाले सत्पुरुष इस संसार में कितने हैं?

तात्पर्य है कि ऐसे सत्यपुरुष संसार में बहुत कम हैं जो मन, वाणी और देह से भी लोगों के प्रति सद्व्यवहार एवम् उपकार में संलग्न हों। दूसरे के सामान्य गुणों को भी वे विशेषतापूर्वक सार्वजनिक रूप में विस्तार से कहते हैं तथा सदा प्रसन्न रहते हैं। ऐसे गुणग्राही एवं सतत प्रभुदित जनों की समाज है, किन्तु मेरी मान्यता है कि प्राचीन काल से ही देवताओं की संख्या एवं शक्ति दानवों की अपेक्षा कम रही है। ये दानव दिव्य गुणों से विभूषित देवताओं को परेशान करते रहे हैं। सत्यथ पर चलने वाले पाण्डव पाँच थे, किन्तु कुपथ का आश्रयण करने वाले कौरवों की संख्या सौ थी। पाण्डवों की सेना सात अक्षौहिणी थी, जबकि कौरवों के पक्ष में ग्यारह अक्षौहिणी सेना लड़ रही थी। फिर भी विजय और कीर्ति सदाचारी पाण्डवों को ही मिली। अतः दुष्टों की संख्यात्मक अधिकता के कारण हम सदाचारी अपने को कमजोर तथा अशत नहीं मान लें। हमें अपना धर्य नहीं खोना है। देवताओं और पाण्डवों की परेशानी बहुत हुई, किन्तु रावण और कौरवों

के लिए ही तुलसीदास ने लिखा :-

राम विमुख अस हाल तुम्हारा।  
रहा न कुल कोउ रोवनिहारा।

ये राम केवल व्यक्ति नहीं, अपितु सत् आचरण के प्रतीक हैं, सन्मार्ग के प्रवर्तक हैं और और लोक मर्यादा के पालक एवं संस्थापक हैं। राम ने शायद ही कभी बाली या रावण की निन्दा की हो। हाँ, सामने आने पर उसके दृष्कृत्यों के लिए उसे फटकार भले लगायी और दुराचरण के प्रतीक उन आततायियों को परलोक पहुँचा दिया। इसी प्रकार राम का राज्य आदर्श राज्य का प्रतीक था जिसमें लोग पूजा दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्त होती थी। सब लोग नीतिमर्यादा एवं धर्म के पालन में तत्पर रहते थे और एक दूसरे से प्रेम करते थे-

सब नर करहिं परस्पर प्रीति।

चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति।

स्पष्ट है कि लोग जिससे प्रेम करते हैं, उसकी निन्दा नहीं करते, अपितु प्रशंसा करते और दूसरों से भी सुनना चाहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन काल से ही लौकिक एवं पारलौकिक दृष्टि से भी 'परनिन्दा' को गर्हित बताया गया है।

अतः हमें इनसे बचने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

'इति शम्'

पटना विश्वविद्यालय  
संस्कृत विभाग

## श्री अरविन्द और श्री शंकर

-प्रो० श्रीकान्त प्रसून

श्री अरविन्द और श्री शंकर का आत्म-ज्ञान एक सा है- भारतीय होने के कारण, वेद-वेदान्त एवं उपनिषद् से प्रभावित होने के कारण अथवा उच्च और समान विचारधारा के कारण। एक वेदान्त के प्रथम प्रसिद्ध व्याख्याता हैं, 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' के रचनाकार हैं, तब दूसरे वेदान्त के आधुनिक प्रवक्ता है, 'लाइफ-डिभाइन' के अनुभावक हैं। सावित्री को आदिशक्ति के रूप में अवतरित करानेवाले हैं। एक में स्थापना है, दूसरे में अन्यतम परिणति है। अपनी अंतःकथा और

गूढ़ दार्शनिक विषयों का आलम्बन कर काव्य रचना की परम्परा संस्कृत में भी रही है। कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' एवं महामहोपाध्याय गोकुलनाथ का 'अमृतोदय' नाटक इस विधा के प्रसिद्ध काव्य हैं। इसी परम्परा में आधुनिक काल के महर्षि अरविन्द की अंगरेजी कृति 'सावित्री' महाकाव्य भारतीय अंगरेजी साहित्य की महान् कृति है। भारतीय वेदान्त दर्शन को रूपक के माध्यम से अंगरेजी भाषा में प्रस्तुति के कारण उसकी गूढ़ता सर्वविदित है। इस महाकाव्य में वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तों पर आचार्य शंकर के सिद्धान्तों के प्रभाव की विवेचना कर रहे हैं अंगरेजी के विद्वान् प्रो० श्रीकान्त प्रसून।

है और प्रेरक भी बनता है। आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया जब भी शिथिल होने लगी है कोई बुद्ध, कोई शंकर या कोई

यशःकाया में दोनों एक ही हैं। वे दो कालखण्डों में प्रदीप्त दो देदीप्यमान ज्ञान-नक्षत्र हैं- समुन्नत, सम्पन्न, श्लाघ्य, समादृत, सर्वशास्त्र सम्मत और सर्वजयी।

श्री अरविन्द बुद्ध और श्री शंकर को समकक्ष का चिन्तक बताते हैं। उनके अनुसार भारतीय दर्शन में श्री शंकर बुद्ध को पूरा करते हैं और पुनः स्थापित करते हैं - for Shankara in the historical process of India's philosophical mind takes up, completes and replaces Budha - यह श्री शंकर के ज्ञान और विचारों की सर्वस्वीकृति का ज्ञापन है।

श्री अरविन्द और श्री शंकर में न शब्द-भिन्नता दिखती है, न मत-भिन्नता और न मार्ग-भिन्नता। बस काल-भिन्नता है और अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न है। दोनों में एक सहज समरूपता है, आन्तरिक साम्य जो आह्लादित आनन्दित करता ही है, विश्वसनीयता भी बढ़ाता

है और प्रेरक भी बनता है। आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया जब भी शिथिल होने लगी है कोई बुद्ध, कोई शंकर या कोई

अरविन्द नवजागरण फैलाता पुनरुत्थान करता गया है। यह भारतीय मनीषा और संस्कार के अजस्र, जीवन्त और सदा गतिशील रहने का प्रमाण और कारण दोनों है।

ये सब बाह्य-तथ्य और अंतःसत्य देखते-परखते वितरित करते रहते हैं। श्री शंकर और श्री अरविन्द के सिद्धान्तों और व्याख्या को देखने से यह सहज ग्राह्य और स्पष्ट हो जायेगा।

'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' की प्रसिद्ध पंक्तियों में आदिशंकराचार्य का अद्वैत का सिद्धान्त ठोस स्वरूप में विद्यमान है और सर्वाधिक प्रसिद्ध है। ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः। एक

मात्र ब्रह्म ही सत्य है, संसार भ्रम है, व्यक्ति की और अनन्त की आत्माएं एक हैं।

सामान्यतया वेदान्त के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए साधना और चिन्तन करनेवाले श्री अरविन्द मुखर स्वरो में मानते हैं कि आत्मा और दैव एक ही है - The bliss of a myriad myriads who are one. साथ ही यह भी बताना नहीं भूलते कि आत्मा पुनर्जन्म लेकर जब फिर से दैहिक-कारा में आती है, शारीरिक बन्धन और सांसारिक परिचय को स्वीकार करती है, देह, परिवार और समाज उसे प्रभावित करता है। ईश्वर संबंधी उसकी स्मृतियाँ धूमिल पड़ती हुई समाप्त हो जाती है और उसे नये सिरे से ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा करनी पड़ती है-

It strove with a blindness as of grouping hands  
To fill the aching and disastrous gap  
Between earth-pain and the bliss from which life fell.

Savitri : 132.

इस स्थिति में बाहरी और सामाजिक परिचय महत्वपूर्ण होता जाता है, जाति, धर्म, अहं भारी पड़ते जाते हैं, तामसी और अ-सात्विक वशतियाँ और प्रवशतियाँ दृष्ट से दृढतर होती जाती है। माया का यही यथार्थ सच होने लगता है और आत्मा का सत्य दूर चला जाता है किन्तु 'विवेकचूडामणि' के कथन को उद्धृत करते हुए श्री अरविन्द यह मानकर चलते हैं कि The eternal is true; the world is a lie. उनके अनुसार माया अयथार्थ है, ब्रह्म ही पूर्ण सत्य है - 'Maya is unreal Brahman is the Sole truth' -

Life Divine : 465.

जीवन की दैनन्दिन घटनाओं और क्रियाओं को उदाहरण के रूप में रखते हुए श्री शंकर ने 68 पदोंवाले अपने 'आत्मबोध' में अद्वैत के सिद्धान्त को, तत्संबंधी अपनी अवधारणाओं को प्रस्तुत किया है। इसमें ब्रह्म-सूत्र के अव्यक्त

दर्शन को सर्वसाधारण के लिए सहज करके दर्शाया है वे यह कहते हुए आरम्भ करते हैं कि 'आत्मबोध' उन लोगों के लिए, जो मुक्ति, मोक्ष, निरपेक्षता, निर्णय, विभेद और विवेचन के लिए उत्सुक हैं, पहली पुस्तक प्रमाणित होगी। इसी आत्म-बोध को श्री अरविन्द कहते हैं कि सत्य अन्तस में अवस्थित है, वह सतह पर नहीं है -

The truth of ourselves lies within and not on the surface.

Life Divine : 115

वे वेदान्त दर्शन से सहमत हैं कि आत्मज्ञान से ही संसार का ज्ञान पाया जा सकता है - 'It is on this possibility that Indian Vedanta has based itself. It has sought through knowledge of the self the knowledge of the universe.'

Life Divine : 73

श्री अरविन्द कहते हैं कि उच्चतर जीवन (Greater life) में प्रवेश करने के पूर्व जब तक हम निम्न जीवन (Lower Life) में होते हैं एक असत्य का साम्राज्य छाया रहता है, वह भी यथार्थ होता है। उसमें जीना और अपना निश्चित और संकल्पित कर्म करना भी यथार्थ है और सही है। निम्न चेतना में प्रकाशपुँज नहीं होता, उच्च चेतना में अंतः प्रकाश की आभा और दीप्ति होती है - 'The master-word of the sub conscient is life, the master-word of the superconscient is light'.

Life Divine : 73

भारतीय मनीषा यह मानकर चलती है कि आत्मा का प्रथम ओर अन्तिम उद्देश्य 'अनन्त-चेतना' (cosmic consciousness) से एकात्म बोध करना है। इसी हेतु की पूर्ति के लिए 'आत्मा' और 'परमात्मा' के बीच लगे अज्ञान के पदों को हटाना पड़ता है। हमारा आत्मिक-आन्तरिक संसार और उसका दिव्य-ज्ञान



ही महत्वपूर्ण रह जाता है-

The surface symbol of his goalless quest  
Takes deeper meanings to his inner view;  
His is a search of darkness for the light,  
Of mortal life for immortality.

Savitri : 71

ममेतर याद नहीं रहता, मैं और मेरा हर जगह हर समय क्रियाशील रहता है। इस मैं के अहंकारी होने में सबका यथायोग्य योगदान रहता है। तात्कालिक इन्द्रिय सुख और आनन्द की कामना रहती है और सभी कर्म उसी की प्राप्ति की ओर उन्मुख होते हैं। इसमें मनोविकारों का बोलबाला रहता है। व्यक्तियों, परिचितों, पारिवारिक सदस्यों, सहयोगियों, सहकर्मियों आदि से जो कुछ भी प्राप्त होता है इस तात्कालिक और दैहिक सुख-साधना को गहराता चला जाता है। बाल्यकाल से ही अज्ञान और निरपराध मन पर अर्वाक्षित ज्ञान और अनावश्यक, अनचाहा अपराध प्रभावी हो जाता है। इस तरह सही ज्ञान की खोज की ओर बढ़ने में समय लग जाता है। शिक्षा के नामपर केवल सूचनाएं पढ़ायी-रटायी-समझायी जाती है। 'ज्ञान' कहीं दूर पड़ा रह जाता है। इसलिए ज्ञान-प्राप्ति अत्यधिक कठिन हो जाता है। सही आत्म-ज्ञान की दिशा में अपने अंतः का परिज्ञान पहला कदम है -

'To know our inner being is the first step towards a real self knowledge.'

Life Divine : 579

मानव की जीवन-यात्रा कर्तव्य और दायित्व की पूर्ति में, अधिकार और सुविधा की माँग में, स्थितियों को समझने-परखने में तथा दुर्भावनाओं और कमजोरियों को स्वीकार करने के इर्द-गिर्द ही होती रह जाती है। स्थितियाँ-परिस्थितियाँ चाहे कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हो श्री अरविन्द के अनुसार अगर सकारात्मक चिन्तन हुआ तब उच्च

व्यक्तित्व की उत्पत्ति और उसका विकास अवरूद्ध नहीं होगा। सूर्य की दीप्ति मिलेगी, अंतः प्रकाश मिलेगा और जीवन-कंचन खराद से होकर चमक जायेगा-

A power is on him from her occult force  
That ties him to his own creation's fate  
And never can the mighty traveller rest.  
And never can the mystic voyage cease  
Till the nescient dusk is lifted from man's soul  
And the morns of God hav overtaken his night.

Savitri: Canto IV : 72

अपने दूसरे पद में श्री शंकर एकाएक बड़ी रुक्षता और दक्षता के साथ सीधे मुख्य बिन्दु पर आ जाते हैं। वे घोषणा करते हैं कि केवल ज्ञान ही मुक्ति का मार्ग है जैसे अग्नि ही भोजन पकाने का मुख्य और प्रत्यक्ष कारण है। जल और बर्तन आदि की आवश्यकता पड़ सकती है किन्तु भोजन का पकना अग्नि से ही संभव है। उसी तरह मुक्ति-हेतु भी अन्यान्य आवश्यकताएं हो सकती है मगर ज्ञान ही प्रमुख है।

श्री अरविन्द ने 'लाइफ डिवाइन' और 'सावित्री' दोनों ही पुस्तकों में ज्ञान की विशद चर्चा की है। ज्ञान को वे चेतना की क्रियाशीलता मानते हैं।

Knowledge is only the instrumentaton of an operative consciousness of being.

(Life Divine:1047)

वे प्रत्यक्ष स्थूल ज्ञान, आत्म-ज्ञान, आध्यात्मिक ज्ञान, व्यवहारिक ज्ञान, अशरीरी ज्ञान, सतही ज्ञान, विश्वज्ञान इत्यादि सभी में महीन विभेद दिखाते चलते हैं। ज्ञान अप्रत्यक्ष बोध (indirect perception) है। ज्ञान सीमित है। इसपर आन्तरिक विचारों, भावों, अनुभूतियों, मिश्रित विभ्रमों का प्रभाव पड़ता है। साथ ही बाहर से वैचारिक

शक्ति, संगठनात्मक बुद्धि और प्रत्यक्ष दृश्यों आदि का भी प्रभाव देखा जा सकता है। यही ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग है और यही ज्ञान-मार्ग की बाधाएँ भी हैं। ज्ञान-अज्ञान, चित्ति-अचित्ति, आत्म-स्वीकृति और आत्म-दर्शन आदि भी क्रियाशील रहते हैं। इसी से ज्ञान छलता रहता है। व्यक्तिगत विकास की सीमा बाँध देता है। उसे ही ब्रह्माण्डीय चेतना में परिवर्तित करना होता है। तभी विश्वात्मा यह जान पायेगी कि वह सबकी आत्मा है, सब उसी की तरह है, सब उसी में है, और सबकी प्रकृति उसकी अपनी प्रकृति है-

For the universal spirit knows itself as the self of all[ knows all as itself and in itself, knows all nature as part of its nature.'

Life Divine : 564

तमाच्छादित ज्ञान नीचे की ओर खींचेगा या धकेलेगा किन्तु आत्मा उर्ध्वमुखी ही रहेगी, ऊपर की ओर ही उड़ती-बढ़ती जायेगी, पहले उज्ज्वल फिर उज्ज्वलतर होगी -

An intergral knowledge demands an exploration, an unveiling of all the possible domains of consciousness and experience.

Life Divine : 679

जैसे-जैसे ज्ञान की प्रकाशमान किरणें अन्दर प्रवेश करती जायेंगी तात्कालिक बुद्धि में तीक्ष्णता आ जायेगी, दृष्टि की शक्ति में वृद्धि होगी, बहुत कुछ साफ, स्पष्ट और सन्निकट दिखने लगेगा। अंतस चेतना इतनी प्रखर हो जायेगी कि किसी भी तरह की शंका की कोई गुंजाइश नहीं बचेगी।

The ever-wise compassionate Brilliances  
Await the sound of the incarnate's voice  
To leap an dbridge the chasm of ignorance.

Savitri : 59

श्री शंकर की मान्यता और स्थापना है कि कर्म अज्ञानता को दूर नहीं कर सकता क्योंकि कर्म और अज्ञानता परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। इनमें प्रत्यक्ष विरोध नहीं है। जैसे प्रकाश ही अन्धकार का नाश कर सकता है वैसे ही केवल ज्ञान से ही आत्मा को जाना जा सकता है। ज्ञान के अभ्यास से अज्ञानता को दूरकर पवित्र हुआ जा सकता है जल-शुद्धि की क्रिया जैसी आत्म-शुद्धि भी होती है। ज्ञान से आत्मा को जाना जाता है पर आत्मा से मिलने के पश्चात् ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती।

वैसी ही प्राप्ति की बात श्री अरविन्द भी करते हैं। व्यक्ति का पहला कार्य है कि इस संसार में अपनी बहुकाणिय स्थिति को समझे, खुद को विकसित करे और अपने से बड़ा हो जाय। उसे अपने खण्डित अस्तित्व को पूर्ण अस्तित्व में बदलना होगा, अपनी आंशिक चेतना को सम्पूर्ण चेतना में परिवर्तित करना होगा, अपने वातावरण पर अधिकार करना होगा, विश्व-एकात्मकता और विश्व-समरूपता लानी होगी, अपनी व्यक्तिगत सत्ता को अनुभव करना होगा, उसे ब्रह्माण्डीय सत्ता में विकसित-पल्लवित करते हुए अस्तित्व के एक सर्वव्यापी और आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति करनी होगी। यह ज्ञान के प्रकाश (Luminousness of knowledge) से ही सम्भव है -

Man is there to affirm himself in the universe, that is his first business, but also to evolve and finally to exceed himself : he has to enlarge his partial being into a complete being, his partial consciousness into an integral consciousness; he has to achieve mastery of his environment but also world-union and world-harmony; he has to realise his individuality but also to enlarge it into a cosmic

self and a universal and spiritual delight of existence.

Life Divine : 713

श्री शंकर समुद्र के किनारे बिखरी सिप्पियों से उपजने वाले चाँदनी रात में चाँदी के भ्रम का उदाहरण देते हैं। जब हम उसे जान लेते हैं तब चाँदी का भ्रम समाप्त हो जाता है। उसी तरह नाम और रूप का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता। नाम और रूप बाहरी आवरण हैं। संसार तो आत्मज्ञानी के मस्तिष्क में होता है। विष्णु सर्वव्याप्त चेतना है, स्वर्ण है।

इसी आत्मज्ञान के लिए श्री अरविन्द कहते हैं कि वह एक क्षण में ही दीख जाता है किन्तु शताब्दियाँ गुजर जाती हैं, उसे अभिव्यक्त करने में -

A moment sees, the ages toil to express.

Savitri : 315

श्री अरविन्द In the kingdoms of the Greater Knowledge में बताते हैं कि आत्मज्ञान की साधना करनेवाला आत्मा के एक अनन्त क्षण में (a measureless moment of the soul) एक अप्रतिबन्धित निःशब्दता में (a real of boundless silences) ब्रह्म की ध्वनि की प्रतीक्षा करता हुआ, व्यापक और पूर्ण प्रकाश में (A light was round him wide and absolute) अपनी सत्ता और परमानन्द पाकर अपनी आत्मा की बेरंग पवित्रता में बस जाता है (He dwelt in his self's colourless purity)। यह सर्वसमाप्ति और सर्वाम्भ (A state in which all ceased and all began) की अवस्था होती है। सर्व-आत्मानन्द के आवास का फर्श श्वेत होता है जहाँ वे विचार आते हैं जो विचारों से परे चले जाते हैं, यहाँ एक प्रसुप्त ध्वनि होती है जिसे इन्द्रियों से सुनना सम्भव नहीं, यहाँ वह ज्ञान होता है जिसमें जाननेवाला ज्ञानी और जाना हुआ ज्ञान एक हो जाता है-

A white floor in the house of All-Delight.

Here came the thought that passes beyond thought,

Here the still voice which our listening cannot hear,

The knowledge by which the knower is the known.

Ibid : 297

सीमित कर देनेवाले किस भी बन्धन से ज्ञान मुक्ति दिला सकता है - The known released him from its limiting chain. महावाक्यों की ओर संकेत करते हुए श्री शंकर उपनिषद् में अभिव्यक्त भावों और तत्वों को पुनर्स्थापित करते हुए ब्रह्म की प्रकृति को दर्शाते हैं और स्पष्ट करते हैं कि उसे 'नेति-नेति' 'यह नहीं' 'यह नहीं' के द्वारा ही जाना जा सकता है। श्री अरविन्द के लिए वह केवल अपने आप में यथार्थ है किसी और में नहीं (only itself was real to itself:308)

श्री शंकर की स्पष्ट मान्यता है कि आत्मा पर केन्द्रित होने के लिए ध्यान आवश्यक है। ज्ञान की लौ जलाने के लिए अनवरत ध्यान लगाने की जरूरत है। लकड़ी से लकड़ी रगड़कर अग्नि पैदा की जाती है। उसी तरह ध्यान से ही ज्ञान की लौ-लपट जल सकती है। ध्यान एक प्रकार का अंतः से बाह्य का घर्षण है।

श्री अरविन्द के लिए सभी चेतना आनन्द का सागर है और सभी सर्जना प्रकाश की क्रिया-  
All sentience is a sea of happiness  
And all creation is an act of light.

Ibid : 298

ज्ञान रहस्य-शिखरों तक पहुँचता है, विचार विस्तृत आन्तरिक बोध में रहते हैं, अनुभूति शांति के सागर में तैरती है और दृष्टि समय की पकड़ से दूर चली जाती है-

There knowledge called him to her mystic

peaks

Where there is held in a vast internal sense  
And feeling swims across a sea of peace  
And vision climbs beyond the reach of time.

Ibid : 299

जीवन-यात्रा का महत्व प्रतीक में ढलकर महत्वपूर्ण हो जाता है। यह 'नदी-नाव-संयोग' के सिद्धान्त के रूप में भी जाना जाता है। जीवन में यह सिद्धान्त अपनी बड़ी कारगर भूमिका निभाता है। जीवन-सागर पर हम नाव की तरह तैरते रहते हैं। हम जीवन में रहते हुए भी जीवन से असम्पृक्त रह सकते हैं। जल में तैरता हुआ नाव भी जल से अलग रहता है। जब हम जीवन को ही अपने में समेट लेना, सिकुड़ा लेना, भर लेना चाहते हैं तब उसी 'मात्रा' में बह जाते हैं। नाव में जल जब भी भरेगा, नाव डूबेगी ही। फिर भी इस अनन्त सागर की हम यात्रा करते रहते हैं- एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह तक। अपनी सुरक्षित यात्राओं से संतुष्ट रहते हैं। नये-अनजाने की ओर जाने से हिचकते हैं। पर विस्तृत सागर पुकारता है, वृहत्तर होती दुनिया दूर दराज के दृश्यों को देखने के लिए बुलाती है, हमारी यात्रा दृष्टि के एक बड़े फलक पर होती है, अनजाने लोगों और अनदेखे कछारों तक जाने की ललक बढ़ती जाती है-

His pay doled out from port to neighbour port,

Content with his safe round's unchanging course,

He hazards not the new and the unseen,  
But now he hears the sound of the larger seas,  
A widening world calls him to distant scenes,  
And journeying in a larger vision's arc  
And peoples unknown and still unvisited shores.

Ibid : 70

भाँति-भाँति के कार्य-व्यापार करता वह

साधक यात्रायें पूरी करता रहता है। इसी क्रम में अकल्पनीय महादेशों तक पहुँचता है। वह वरदान के द्वीप की खोज में है। वह अन्तिम जमीन छोड़ता है, अन्तिम सागर को पार करता है। अपनी प्रतीकात्मक खोज में शाश्वत वस्तुओं की ओर मुड़ता है। उसके लिए जीवन काल-निर्मित दृश्यों को परिवर्तित कर देता है, अनन्तता को ढकनेवाले बिम्बों को बदल देता है-

A seeker of the islands of the blest,  
He leaves the last lands, crosses the ultimate seas,

He turns to eternal things his symbol quest,  
Life changes for him its time constructed scenes,

Its images veiling infinity.

Ibid : 70

वह दुनिया के अन्त तक पहुँच कर दूर देखता है। इससे बड़ी एक दूसरी दुनिया को खोज लेता है। अन्ततोगत्वा वह मन्त्रोच्चारण सुनता है। अज्ञात निकट आ जाता है, अनदेखे की सीमा टूट जाती है। मानव-दृष्टि से परे खुद को और वस्तुओं को एक नई दृष्टि से देख लेता है -

And the far speaks and the unknown grows near,

He crosses over the edge of mortal sight,  
To a new vision of himself and things.

Ibid : 71

सतह पर उसकी यात्रा निरुद्देश्य लगती है, अन्तर चिन्तन पर गहरे अर्थ देती है-

The surface symbol of his goalless quest,  
Takes deeper meanings to his inner view.

Ibid : 71

वह प्रकाश की, अमरता की खोज में है। वह समय के जादूई तरंगों पर देखता है, वहाँ चन्द्रमा-सा मस्तिष्क सांसारिक अंधकार को प्रकाश से भर रहा है - Where mind like a moon

illuminates the world's dark. वह तारों भरे वैचारिक संसार से होकर महायात्रा करता है, भौतिकता के जहाज पर खड़ा आध्यात्मिक सूर्य तक पहुँचता है -

He voyages through a starry world of thought.  
On matter's deck to a spiritual sun.

Ibid : 71

यह यात्रा जीवन से होकर, मृत्यु से होकर, दूसरे जीवन से होकर जागृति में और सुषुप्ति में भी होती रहती है

He sails through life and death and other life,  
He travels on through waking and through sleep.

Ibid : 72

वह साहसी यात्री आराम नहीं कर सकता, उसकी रहस्यात्मक महायात्रा तब तक रूक नहीं सकती जब तक कि मानव-आत्मा पर से अज्ञानता का अंधेरा हटा नहीं लिया जाता, जब तक कि उसकी रातों पर ईश्वरीय सुबह छा नहीं जाती-  
And never can the mighty traveller rest,  
And never can the mystic voyage cease,  
Till the nescient dusk is lifted from man's soul  
And the moves of God have overtaken his might.

Ibid : 72

यही आत्म-बोध और आत्मज्ञान है। यही लक्ष्य है और इसी की प्राप्ति आकांक्षित है। यह निर्धारित लक्ष्य किसी बाह्य वर्तमान नक्शे में नहीं है - His god is fixed outside all present maps.

'आत्म-बोध' के अन्तिम पदों में अद्वैत का स्पष्ट और देदीप्यमान विवरण और व्याख्या है। ब्रह्म में लीन उनका स्वर अन्तस से निकलता प्रतीत होता है। वे ब्रह्म में सत्-चित्-आनन्द में, सच्चिदानन्द में निमग्न लगते हैं। इन पदों में उनका 'ब्रह्माण्डीय' विचार प्रकट हुआ है। उनके

अनुसार जिसे भी देखा, सुना, जाना या अनुभव किया जा सकता है वे सभी ब्रह्म हैं। ब्रह्मरूप के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ज्ञान-चक्षु से आत्म और परम् आत्म का बोध हो सकता है। वे 'आत्मा के मन्दिर' तक की रहस्यात्मक तीर्थ-यात्रा करने की सलाह देते हैं। वहीं से चित्त और स्वभाव की स्थिरता प्राप्त हो सकती है।

श्री अरविन्द को उस यात्रा में आत्मा की अनन्ता दिखायी पड़ने लगती है, छिपे अन्य संसार बोलते हैं, शाश्वतताएँ शाश्वताओं को पुकारती हैं और निःशब्द संवाद दूर-दूर तक प्रेषित कर देती हैं। गहराई के उत्कर्ष से उठती, परम चेतना की ऊँचाई पर प्रज्ज्वलित, क्षितिज के समानान्तर चक्रगति को बुहारती करोड़ों शक्तियाँ मिल जाती है और एक हो जाती है -

Arisen from teh marvel of the depths  
And burning from the superconscious heights  
And sweeping in great horizontal gyres  
A million energies joined and were the one.

Ibid : 300

वहाँ सभी ब्रह्मरूप हैं। वहाँ असत्य के लिए कोई स्थान नहीं। वहाँ उसका प्रवेश निषिद्ध है। वहाँ सभी विशिष्ट हैं, अलग-अलग हैं और सभी एक हैं।

In that high realm where no untruth can come.  
Where all are different and all is one.

Ibid : 301

'all are one' के बदले श्री अरविन्द द्वारा 'all is one' का दृढ़ प्रयोग द्रष्टव्य, विचारणीय और सराहनीय है। 'विवेक चूड़ामणि' की भाँति 'आत्म-बोध' भी स्वतन्त्र अन्वेषणा की पुकार है। श्री शंकर आम और खास, सामान्य और बौद्धिक सभी व्यक्तियों को समेट लेना चाहते थे। ज्ञान के इस पुकार को वह हृदय की ध्वनि बना लेना चाहते थे। उन्होंने इसका एक बौद्धिक समाधान

दिया भी है, यथार्थ के दो आधार हैं- ब्रह्म और माया। एक आध्यात्मिक है, दूसरा व्यावहारिक, एक पूर्ण है दूसरा खण्डित सांसारिक, एक शाश्वत है, दूसरा क्षणिक, एक ब्रह्म का शुद्ध यथार्थ है और दूसरा माया का क्षणभंगुर बिम्ब। श्री अरविन्द यह स्वीकार करते हैं कि माया और ब्रह्म के भ्रम के निवारण में श्री शंकर पथ-प्रदर्शक हैं-

In the second possible answer on the illusionist basis to the problem, in the philosophy of Shankara which may be described as a qualified Illusionism, an answer which is presented with a force and comprehensiveness that are extraordinarily impressive, we make a first step towards this solution.

Life Divine : 473

श्री शंकर ने उपनिषदों का भाष्य किया है जो विवेचन शैली में गम्भीर, प्रसादपूर्ण और युक्तियुक्त है। उनका पाण्डित्य और युक्ति कौशल सर्वत्र श्लाघ्य है। उनमें कहीं भी शिथिलता नहीं आती। उसी प्रकार श्री अरविन्द का भी विवेचन और वर्णन युक्तिसंगत और पाण्डित्यपूर्ण हैं। सावित्री में आध्यात्मिक प्रयोजन और साहित्यिक प्रतिपादन दोनों सिद्ध होते हैं। दोनों काल पुरुषों में सारे विरोधों का समन्वय हो जाता है। दोनों ही नवीन दृष्टि देते हैं, संकल्प-शक्ति बढ़ाते हैं, ज्ञान-पिपासा शान्त करते हैं और अन्तश्चक्षु खोलते हैं। दोनों के ही अध्ययन से अनिर्वचनीय आनन्द, प्रमाणभूत ज्ञान और अस्तित्व को युक्तिसंगत उद्देश्य प्राप्त होता है।

श्री अरविन्द 'नव-सर्जन' की बात करते हैं किन्तु श्री शंकर में इसकी चर्चा नहीं है। श्री शंकर अंतःशक्ति को शोधते हैं, साधते हैं और इच्छुकों के लिए यह साधना आसान बनाते हैं।

श्री अरविन्द में भी यही साधना और यही उद्देश्य है। श्री अरविन्द ने कभी खुद को 'तांत्रिक' कह दिया जिससे भ्रम पैदा हुआ था किन्तु आत्मलीनता और ज्ञान-साधना साथ ही अभिव्यक्ति की परिपक्वता भ्रामक अवधारणाओं को दूर कर देती है। लक्ष्य-निर्धारण और लक्ष्यापूर्ति दोनों में ही महत्वपूर्ण है। दोनों ने ही जितना दिया है परवर्तियों ने उसका उतना लाभ नहीं उठाया। अधिकांश प्रशंसा करते ही रह गये।

श्री अरविन्द और श्री शंकर में न स्पष्ट बाह्य विरोध है, न उल्लेखनीय अंतर्विरोध। वर्तुलाकार मार्ग या गति के उतार-चढ़ाव में अगर सूक्ष्म विरोधाभास की प्रतीति हो तब उसे व्यापकता और बहुलता के हित में मुद्दा नहीं बनाना चाहिए। तत्त्व महत्वपूर्ण होता है, व्यक्ति, स्थान, समय और साधन के कारण प्रभाव समान नहीं भी पड़ सकता है। बोध और उद्देश्य का भी अपना महत्व है। आध्यात्मिक बोध और मानवीय लक्ष्य की अपनी विशिष्टता होगी। उसे ओझल नहीं किया जा सकता। दोनों में बृहत्तर उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समान मार्ग का बोध, ज्ञापन और अनुशंसा है; पूर्णता की ओर अनवरत बढ़ता हुआ चरण है; परिपाक है और परितृप्त करता है।

इस मायावी जीवन से प्रत्येक ब्रह्मवेला में थोड़ा समय निकालकर इन दोनों 'महापुरुषों' का अध्ययन, चिन्तन, मनन, अनुशीलन और अनुपालन करना एक तरह से मानव को प्राप्त श्रेष्ठतम ज्ञान का लाभ प्राप्त करना होगा, दैहिकता में स्वच्छ, कर्म में निर्मल और ज्ञान में उच्च हो जाना होगा।

सोलोमन कम्पलेक्स,  
मोतिहारी- 845401

## युगचेता तुलसी

□ श्रीकान्त व्यास

अगर इंग्लैण्ड को महान् कवि और नाटककार शेक्सपियर पर गर्व है तो भारत को भी लोकचेतना के चितरे और काव्य जगत् के महानायक गोस्वामी तुलसीदास पर गर्व है। भारतीय काव्य जगत् तुलसीदास के बिना अधूरा है। कहने का मतलब है कि तुलसी की कविताएं जन-जन की वाणी बिना अधूरा है। गोस्वामीजी प्रातः स्मरणीय कवि बन चुके हैं। ये सुसभ्य, सुसंस्कृत और नीतिवान् समाज के द्रष्टा हैं। तुलसी का चिन्तन है कि अगर राजतंत्र में धर्मनीति हो तो वह जनतन्त्र से बेहतर होगा। इसे इन्होंने मानस

में बखूबी दिखलाया है। गोस्वामी सम्पूर्ण जगत् को सियाराममय बनाने के अभिलाषी प्रतीत होते हैं। रामचरितमानस में जहाँ इन्होंने प्रभु श्रीराम के माहात्म्य को प्रकट किया है वहीं विनय-पत्रिका में देवी की महिमा का मुक्तकंठ से बखान किया है। कवितावली में तो देवी के दार्शनिक स्वरूप को उद्घाटित किया है। यहाँ देवी को सर्वशक्तिशालिनी के रूप में पेश किया गया है। इन पंक्तियों में इसे बखूबी देखा जा सकता है-

रचित विरंचि, हरि पालत, हरत हर  
तेरे ही प्रसाद जग अगजग पालि के

तोहि में विकास विश्व, तोहि में विकास सब  
तोहि में समान मातु भूमिहार बालि के।'

कविवर सूरदास और मीराबाई जहाँ संसार को कृष्णमय देखना चाहती है वहीं गोस्वामी सम्पूर्ण जगत् को राममय देखना चाहते हैं। हलाँकि सभी का केन्द्रीय उद्देश्य है आराध्य देव की प्राप्ति और जगत् को इस ओर उन्मुख करना। इन तीनों को इस उद्देश्य में भरपूर सफलता मिली है।

गोस्वामीजी ने काव्य के माध्यम से जो भक्ति रस का दरिया बहाया है वह काबिले तारीफ है। इनके

काव्य में साहित्य के सभी रसों और कई छन्दों का समावेश हुआ है। ऐसे प्रतिभा के अनमोल सितारे कभी-कभी ही इस धराधाम पर पैदा लेते हैं। इनके काव्य में जो सामाजिक चेतना और चिन्तन दृष्टिगोचर होता है, उसका व्यापक फलक यहाँ दिखाई देता है। इनके चिन्तन की व्यापकता को देखते हुए इन्हें भक्ति साहित्य का महानायक कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होनी चाहिए। इनके काव्य ने भारतीय समाज में एक युगांतकारी परिवर्तन ला दिया। नैतिकता, प्रेम, त्याग, गार्हस्थ-जीवन, आदर्श राजधर्म, पतिव्रता-धर्म,

गोस्वामी तुलसीदास ने समाज के सामने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की गाथा उन्हीं की भाषा में प्रस्तुत कर पथ-प्रदर्शक का कार्य किया है। उन्होंने अपने समय की विभीषिका मात्र का वर्णन कर महदय सामाजिकों के मन में केवल कुण्ठा भरने के स्थान पर एक नयी चेतना का संचार कर देशकालातीत हो गये हैं; किन्तु अपने समय का यथार्थ अलक्षित रूप से ही सही, उनकी रचनाओं में आ गये हैं। इस यथार्थ का विवेचन तुलसी की महत्ता को पुष्ट कर देती है।

मातृ-प्रेम, स्वामी-भक्ति का अनुपम उदाहरण देखना हो तो तुलसी साहित्य में बखूबी देखा जा सकता है। यों तो महाकवि तुलसी ने स्वयं स्वीकारा है कि उन्होंने 'अंतः सुखाय' के लिए अपना काव्य रचा है पर उनका 'अंतः सुखाय' अब वह सर्वसुखाय के लिए हो गया है। इनकी सम्पूर्ण काव्य कृतियाँ भक्ति रस से सराबोर हैं। भक्ति रस की दरिया बहाने में इन्हें महारथ हासिल है। इनका समग्र साहित्य आदर्श का आईना है। अनुशासन से लवरेज है। भक्ति, ज्ञान, करुणा, त्याग, प्रेम और वैराग्य का संधिस्थल है।

गोस्वामीजी नैतिकता के पक्ष में बखूबी खड़े दिखाई देते हैं। मानव तन जो 'क्षितिज, जल, पावक, गगन, समीरा' से बना है। चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद हमें इसे प्राप्त हुआ है। यह देवताओं को भी दुर्लभ है। इस तन की सार्थकता तभी है जब हम सदाचार को अपनाएँ नैतिकता का ही दूसरा नाम है सदाचार। तुलसीदास कहते हैं कि इस अनमोल तन की सार्थकता तभी है जब हम दूसरों के सेवा, परोपकार, भलाई और ईश्वर भक्ति में लगाएँगे। नैतिकता ही समाज सेवा को जन्म देता है। नैतिक पतन के कारण ही आज समाज में हिंसा, प्रतिहिंसा, बलात्कार आदि बुराइयाँ पनपती जा रही हैं। नैतिक पतन पर अंकुश लगाए बिना समाज में अमन-चैन संभव नहीं।

तुलसीदास मानव को जीवन से अवगत कराते हुए कहते हैं-

'बड़े भाग मानुष तनु पावा'

गोस्वामी जी का यहाँ कहने का तात्पर्य है कि जीओ मगर मनुष्यता की रक्षा करते हुए। कुमार्ग का रास्ता छोड़ सन्मार्ग की ओर गमन करें।

तुलसी ने भक्त की महिमा का बड़े गौरव के साथ गुणगान किया है। भक्त महाबली हनुमान्

के व्यक्तित्व और कृतित्व को जो इन्होंने ऊँचाई दी वह किसी कवि ने नहीं दे पायी है। आज समाज में जहाँ अल्प लोभ के लिए सेवक मालिक का गला तक रेतने में तनिक भी नहीं हिचकते वहीं गोस्वामीजी के श्रीराम के सेवक हनुमान् अपने स्वामी पर सर्वस्व समर्पण करने को व्याकुल है। मौका मिला तो अत्याचारी रावण की चंगुल से जगज्जानकी सीता को छुड़ा लाए। क्रोध में आकर रावण की लंका नगरी को नेस्तनाबूत कर दिया। प्रभु प्रेम में दत्तचित्त हनुमान् ने सारी कठिनाइयों को रौंदते हुए माँ सीता को रावण से मुक्ति दिलाने में प्रथम भूमिका निभायी। समाज को आज वीर हनुमान् की तरह परम भक्त की जरूरत है। समाज के हर सेवक को भक्त हनुमान् से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

तुलसी साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है भक्ति रस से लवरेज होते हुए भी पलायनवादी नहीं है। ये गृहास्थाश्रम में ही स्वर्गानुभूति की खोज करते हैं। इनकी कालजयी कृति 'रामचरितमानस' नैतिकता, प्रेम और त्याग की खुली वकालत करती है। इस पुस्तक ने सम्पूर्ण भारतीय समाज को प्रभावित किया है। मानस की लोकप्रियता को देखते हुए किसी ने इसे उत्तर भारत की बाइबिल तक की संज्ञा दे दी है। उत्तर भारत में लोग बड़े श्रद्धा और विश्वास के साथ इसका पाठ किया करते हैं। हनुमान चालीसा को तो लोग एक तरह से कण्ठहार बना चुके हैं।

इनकी 'कवितावली', 'विनय पत्रिका', 'दोहावली', 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल', 'बरवै रामायण', 'वैराग्य संदीपनी', 'रामाज्ञा प्रश्न' और 'रामलला नहछू' जैसी कृतियों में भी गम्भीर चिन्तन दृष्टिगोचर होता है। मानस समाजवादी आदर्श का बेमिसाल उदाहरण है। मानस में ऊँच-नीच की दीवार ढहती हुई दीख पड़ती है।



मुनि वशिष्ठ निम्न कुल में जन्मे निषाद को प्रेमाकुल होकर गले लगाते हैं। यहाँ कोई ऊँच-नीच का भेद नहीं। यहाँ मानव के प्रति समभाव दर्शाया गया है। मानस का नायक श्रीराम तो छुआ-छुत, भेद-भाव, जात-पात, गरीब-अमीर की भावना से कोसों दूर है। क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी श्रीराम में तनिक भी जाति अहं नहीं है। दलित जाति की शबरी के हाथों जूठे फल बड़े चाव से खाते हैं श्रीराम। वे कोल भील, बानर आदि निम्न जाति से मिलने और प्रेम-भाव दर्शाने में तनिक नहीं हिचकते।

कुछ आलोचक तो गोस्वामी जी को वर्णाश्रम के पक्षधर मानते हैं। मगर यहाँ उनका आरोप बालू की भीत की तरह धाराशायी हो जाता है। भगवान राम तो छली-कपटी से कोसों दूर रहने की सलाह देते हैं। भगवान राम कहते हैं-

**‘निर्मल मन जन सो मोहि पावा,  
मोहि कपट छल छिद्र न भावा’**

कहने का तात्पर्य है कि जो निर्मल चित्त वाले लोग हैं वे ही प्रभु का साक्षात्कार प्राप्त कर पाते हैं। जो कपटी, छली, धूर्त, कामी, क्रोधी, लोभी होंगे उससे प्रभु प्राप्ति सम्भव नहीं हो पाएगी। शुद्ध चित्त वाले को ही परमानन्द मिल पाएगी।

तुलसी की कृति ‘रामचरितमानस’ के बाद दूसरे स्थान पर ‘विनय-पत्रिका’ को रखी जा सकती है। इसमें भक्तिरस धारा उमड़कर बही है। यह पुस्तक भी अनोखी है। एक विद्वान् ने ‘विनय पत्रिका’ के बारे में लिखा है- ‘तुलसी को यह पत्रिका लिखने में जैसी सफलता मिली है, उस अनुपात में वह उनके और किसी ग्रन्थ में नहीं है।’ मानस में, खासकर अयोध्याकाण्ड में, उनकी कवित्व शक्ति सावन-भादो की नदी की भाँति उमड़ी हुई दिखाई पड़ती है। पर

अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंकाकाण्ड में वह घटते-घटते जेट-बैसाख की नदी की तरह छिछली हो गयी है। कहीं-कहीं उसमें गड्ढे हैं, जिनमें कुछ अधिक जल जरूर जमा मिलता है। पर ‘विनय-पत्रिका’ में आदि से अन्त तक कवि की रसधारा एक सी प्रवाहित है। उसमें प्रचुर ज्ञान, गम्भीर अनुभव, भाषा और भाव पर कवि के अबाध अधिकार का रोचक इतिहास कमल की पंखुडियों सा सर्वत्र विकसित मिलता है।

तुलसी की काव्य कल्पना गजब की उड़ान भरती है कवि हरिऔध ने इनके बारे में क्या खूब कहा है-

**‘कविता करके तुलसी न लसे।**

**कविता लसी पा तुलसी की कला।।’**

भक्ति और कला में सामंजस्य स्थापित करने में तुलसी को बेहतर कामयाबी मिली है। भक्ति में अनुभूति छिपी है यदि तो कला में अभिव्यक्ति का अद्वितीय उदाहरण सन्त कवि तुलसीदास के साहित्यिक चिन्तन में मौजूद है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। एतद् गोस्वामी जी ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, जन-व्यवहार और भारतीय आदर्शों को बखूबी विश्लेषण करते हुए अपने साहित्य में दर्शाया है। सन्त कवियों के सम्राट् के नाम से हम उन्हें विभूषित करते हैं। उनके नायक ‘मानस’ के राम स्वयं सृष्टिकर्ता ईश्वर होते भी आमजनों की तरह दुःख-सुख, विरह-मिलन और पुरुषार्थ की लीला करते हैं। तुलसीदास का अर्थ ही होता है- राम, लखन और सीता का दास। इस तरह अपने को रामभक्ति में लीन कर लेने के बाद ही तुलसीदास कहलाना स्वीकार किया। सच! तुलसीदास जी भक्ति और कला की पराकाष्ठा तक पहुँचे नजर आते हैं।

पो0 बाक्स 16

जी0 पी0 ओ0 पटना

800001

# तुलसीदास का देश-काल

डी० आर० ब्रह्मचारी

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,  
बनिक को बनज न चाकर को चाकरी जीविका  
विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,  
कहाँ एक एकन सो 'कहाँ जाई, का करो ?

किसानों की खेती नहीं हो पाती भिक्षुक  
को भिक्षा पर भी वज्रपात हो गया है, व्यापारियों  
के व्यापार चौपट हो चले हैं । यहाँ तक कि  
नौकरी पर उतर आने

वालों के लिए वह भी  
दुर्लभ हो गई है ।  
जीविका के साधन से  
सर्वथा हीन लोग पीड़ित  
होकर चिंतित हो उठे  
हैं । एक से एक कहता  
फिर रहा है कि कहाँ  
जायँ अब, क्या करें ?  
कुछ सूझ भी तो नहीं  
रहा है ।

यहाँ न तो किसी प्रकार की 'डेंटिंग-पेंटिंग'  
है और न अतिरंजना । 'फोटोग्रेफिक' तस्वीर है  
यह तुलसीदास के युग की । ऐसा कवि का  
कैमरा नहीं, स्वयं युग बोलता है । टी० एस०  
इलिएट ने लिखा है - युग को कवि नहीं, युग  
कवि को लिखता है ।

चेहरे के खराब रहने पर आईना क्या  
कर सकता है ? चेहरा तो आपका ही है न !  
संभावना या संकेत की ध्वनि इतर वस्तु है । वह

कविता की नियति होती है ; क्वचिदन्यतोऽपि,  
इतिहास की कहाँ ?

किसी भी देश-काल को लोगों के समग्र जीवन  
के प्राणवन्त प्रत्यक्षीकरण के लिए साहित्य से  
बढ़कर अन्य प्रमाणिक स्रोत नहीं, लोगों का  
रहन-सहन, जीवन-यापन- पद्धति,  
शिक्षा-कला-शिल्प, विज्ञान-कृषि- चिकित्सा -

एक कविता याद आती है - किसी आधुनिक कवि ने ही कहा है -  
“लड़ता नहीं मैं अंधेरे से, दीपक जलाया करता हूँ।” अंधेरे से लड़ना  
और दीपक जलाना दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; किन्तु पहला  
यथार्थ है तो दूसरा आदर्श । गोस्वामी तुलसीदास ने हमेशा अपने काव्य में  
आदर्श को अपनाया । भक्ति की धारा बहाकर समाज की गंदगी को  
धोया; किन्तु उनका देश-काल भयानक गन्दगी के दौर से गुजर रहा  
था । उनके देश-काल की भीषणता का अवलोकन उनकी महिमा को  
और विभूषित कर देता है ।

उद्योग, ज्योतिष  
धर्म - दर्शन  
प्रशासन-न्याय,  
लोक-विश्वास  
के साथ-साथ  
त द्यु गी न  
स्थिरता-अनस्थिरता  
सभी कुछ ।  
अर्थात् जीवन  
की सामग्रियाँ

संपूर्णता के साथ साहित्य के कैमरे में कैद होती  
है । प्रमाणस्वरूप पूर्व वैदिक युग, वैदिक युग,  
उत्तर वैदिक युग, श्रमणकाल, बौद्ध युग, महाकाव्य  
युग या इतर किसी भी कालखण्ड की रचनाओं  
को जाँचा-परखा जा सकता है । यही क्यों, अपने  
समय का चित्र तो दिखता ही है, उसके पूर्व और  
पश्चात् के तथ्य का आभास भी ध्वनित होता है  
वहाँ यों कहने वाले पुरातात्विक उत्खनन से  
उपलब्ध सामग्रियाँ-शिलालेख, भित्ति-चित्र, मूर्तियाँ,  
मृद्भाण्ड, सिक्के आदि की बातें करते हैं, मगर

जो साहित्य बोलता है, वे कतई नहीं बाले सकते । क्योंकि उनकी अपनी प्रत्यक्ष सीमाएँ होती हैं जिससे ऊपर उठना उनके शक्य से पड़े है, किन्तु अकूत शक्तियों से संपन्न साहित्य पारबंदियों के बाद भी कह ही डालता है ।

मीरा के व्यक्तिगत जीवन के साथ जो कुछ घटित हुआ हो, अनुसंधाता भले लगगी-रस्सी भिड़ते रहे, परन्तु, उनकी स्थिति ज्ञात करने के लिए स्वयं मीरा की पंक्तियाँ यथेष्ट हैं -

हेरी मैं तो दरद दीवाणी, मेरो दरद न जाने कोय ।  
घायल की गति घायल जाणे, की जिण घायल होय ।  
सूली ऊपर सेज हमारी सोणा के हि विधि होय ।

तुलसीदास लिखते हैं -

लोग कुल, कर्तव्य, संपत्ति, यश, रूप, गुण, यौवन के ज्वर में जल रहे हैं, कहीं भी चैन कहाँ ? और राजकाज, वह तो कोढ़ में खाज के सदृश ठहरा ! कुपथ्य है वह; कुपथ्य ! भोग-सामग्रियाँ तो और इस रोग को बढ़ाती हैं । जानकार और बुद्धिमान् तो जैसे विवश प्रलाप कर रहे हैं । अभिप्राय, कुल संपत्ति, रूप-गुण के ज्वर से ग्रस्त लोग राजकाज के कुपथ्य और भोग से मानो उन्मत्त हो गए हैं । बुद्धि और विद्या जैसे उनके लिए बतकही भर रह गई है-

कुल-करतूति-भूति-कीरति-सुरूप-गुन,  
जौवन जरत जुर, पड़ै न कल कहीं ।

राज काजु कुपथु, कुसाज भोग रोग ही के,  
वेद-बुध विद्यापाई बिबस बल कही ।

यह पीड़ा अकेली तुलसीदास की अथवा मीराबाई की हो तो तब एक बात । मध्यकालीन सभी भक्त कवियों में यह पीड़ा दिखती है ।

कुम्भन दास कहते हैं -

संतन को कहा सीकरी सो काम ।

आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम ।

जिनके मुख देख दुख उपजै, तिनको करन परी प्रणाम ।

बहुत पहले कबीर कह चुके हैं -

मेढक राजा बना बैठा है । विषधर उसकी खवासीगिरी करता है । जो अपना गुह्य अंग तक ढँक नहीं सकता, पूरी पृथ्वी की लाजे ढँकने चला है । दूध-दही साफ करने में पारंगत बिल्लियाँ घर की चेरी बनी बैठी है । कम-कुलम से जिसका छत्तीस का भी संबंध नहीं, वह बैल पटवारी गिरी करता है और न्याय का निबटारा अक्ल की दुश्मन भैंस -

संतो बोले ते जग मारै ।

अनबोलै ते कैसेक बनि हैं सबदहि कोई न विचारै ।

दंदुज राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी ।

स्वान बापुरा धरनि ढाकिनों, बिल्ली घर में दासी ।

कार दुकार कार करि आगे, बैल करे पटवारी ।

कहै कबीर सुनो हो संतो, भैंसे न्याव निवेरी ।

म ध य क । ली न  
साहित्य-कला-शिल्प-स्थापत्य के अतिरके का ढिंढोरा पीटने वाले पीटा करें, इससे किसी को आपत्ति हो अथवा नहीं, हकीकती सचाई कुछ और है ।

जिसे हम 'पृथ्वी का स्वर्ग' कहकर फूले नहीं समाते हैं उसकी सच्चाई पर भगवत शरण उपाध्याय की की गई टिप्पणी को देखा जा सकता है - कहते हैं इस इमारत में करोड़ों रुपये लगे, लाखो मजूर । देश के कोने-कोने से मजूर आए । काबुल से दकन तक और बंगाल से गुजरात-काठियावाड़ तक । किसानों ने उसी ताज

के लिए सालों तक खेत जोते, व्यापारियों ने सौदागरी की। तब कहीं वह ताज तैयार हुआ।

यहाँ जगदीश माथुर के 'कोणार्क' नाटक की पंक्ति का स्मृति-पट पर आना अस्वभाविक नहीं।

झुरमुठ की ओट में चहकनेवाले पक्षी का स्वर सर्वदा हर्ष-गान ही नहीं होता।

तुलसीदास द्वारा प्रस्तुत देश-काल का दारुण चित्र यहाँ द्रष्टव्य है -

किसबो, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट, चाकर, चपल नट, चोर चार चेट की।

पेट को पढ़त, गुन गढ़त गिरि,

अटत गहन-गन अहन अखेट की। ऊँचे-नीचे करम, धरम-अधरम कर,

पेट ही हो पचत बेचत बेटा-बेटकी।

अर्थात्, पेट की आग को बुझाने के लिए श्रमिक, किसान, व्यापारी, भिखारी, भाट, चाकर, चंचल नट, चोर, दूत और बाजीगर- पढ़ते, उपायों को बनाते, पहाड़ पर चढ़ते और गहन-दुर्गम जंगलों में विचरते हैं। उँच-नीच कर्म, धर्म-अधर्म, यहाँ तक की बेटा-बेटी को भी पेट के लिए ही बेचने में हिचकते नहीं।

तो यह रहा तुलसीदास का देश-काल, जिससे वह पूरी तरह आहत हैं -

दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीन बंधु।

दुरित-दहन देखि तुलसी ह-हाकरी।

बिना अनुभूति के प्रामाणिक हुए शुद्ध, ताकत वर रचना संभव नहीं। अपने इसी परिवेश में रामबोला पल-बढ़ कर गोस्वामी तुलसीदास बनता है-

मातु-पिता जग जाइ तजी विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।

नीच निरादर भाजन कादर कूकर-टूकड़ि लागि ललाई।

माता-पिता ने जन्म देकर त्याग दिया। ब्रह्म ने भाग्य में जैसे 'भला' शब्द लिखा ही नहीं। नीच बना रहा, निरादर का पात्र। कायर बना। और कूकर के टूकड़े के लिए ललाता फिरा। यही नहीं -

धूत कहौ, अव धूतक हौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोउ।

का कहू की बेटी सों बेटा न व्याहब, काहू की जाति बिगारन सोउ।

तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाकौ रूचै सो कहै कछु ओउ।

माँगि के खैबो, मसीत को सोइबो, लैबो को एकन दैबो को होउ।

धूर्त कहो अथवा परमहंस। राजपूत कहो अथवा जुलाहा। किसी की बेटी से अपना बेटना व्याह कर किसी की जाति नहीं बिगारना। तुलसी तो राम का गुलाम ठहरा। जिसको जो भी जी में आया, बका। माँगकर खाना, मस्जिद में सोना। न तो किसी का एक लेना और न बदले में दो देना ठहरा।

तुलसीदास की यह पीड़ा निराधार न थी। युग ने जैसा दिया, उस पर अपनी प्रतिक्रिया की। युग का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत किया।

महामारी का कारण वह शंकर को कोप मानते हैं -

संकर सरोष महामारी ही तें जानियत।

उनके अनुसार स्वामी के कुपित होने के कारण ही संसार का दारिद्र्य दिनानुदिन बढ़ता रहा है -

साहिब सरोष दुनी-दिन-दिन दारदी।

उन्होंने अपनी खुली आँखों से देखा-

वेद-धर्म चला गया। लुटेरे ही राजा बन

बैठे हैं। पापाचार की वृद्धि देख साधुजन दुखी हैं  
। दुर्बलों के लिए राम को छोड़ दूसरा चारा नहीं  
।

वेद-धर्म दूरि गए, भूमि-चोर भूप भए,  
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप पीन की ।  
दुबरे को दूसरो न द्वार, राम दया धाम,  
रावरीए गति बस विभव विहीन की ।

‘कहाँ जाय, का करी’ से लोगों को मुक्ति  
दिलाने का तुलसीदास के पास अमोघ मन्त्र हैं  
श्रीराम का नाम। जो आप भी अपनी शक्तिमत्ता से  
हमे उर्जस्वित करते हैं ।

राम स्वभाव सुनी तुलसी,  
प्रभु सो कहयो वारक पोटु खलाई ।  
स्वारथ को परमारथ को  
रघुनाथ सो साहेब खोरिन साई ।

उनके श्रीराम केवल पापियों का उद्धार  
नहीं करते, अथवा सन्तों को सायुज्य ही नहीं देते,

अपितु अत्याचारियों का शमन और सद्व्यवस्था  
की स्थापना भी करते हैं -

जब-जब होहिं धरम की हानी ।  
बाढहिं असुर अधम अभिमानी ।  
तब-तब धरि प्रभु मनुज शरीरा ।  
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीड़ा ।

लोहिया जी अकारण इस निष्कर्ष पर  
नहीं पहुँचे थे - जब चारो तरफ से असहनीय  
हमले हों तो हाथ थामना, टेक देना, शायद ही  
तुलसी से बढ़कर कोई कर सकता है ।

तुलसी के देश-काल की परख की  
क्षमता और उसका यथोचित निदान अद्भुत है  
इसमें आश्चर्य नहीं । वह आज भी उतना ही  
मूल्यवान् है, जितना अपने समय में ।

नक्कूथान,  
मोहनपुर, समस्तीपुर

संवत् 1760 अर्थात् 1704 ई० में मिथिला के किसी माधोपुर गाँव में उत्पन्न सन्तकवि रामप्रिया शरण महाराज ने  
जनकपुर में निवास करते हुए विश्व-साहित्य में जगज्जननी जानकी को केन्द्र में रखकर संभवतः प्रथम महाकाव्य ‘सीतायण’  
(सीतायन) की रचना अवधी भाषा में की। वे रसिक-सम्प्रदाय के सिद्ध कवि माने जाते हैं। इस महाकाव्य का प्रकाशन  
जानकी मन्दिर, जनकपुर धाम की ओर से 1994 ई० में किया गया है। इसके आरम्भ में श्रीसीता की उत्पत्ति का समय इस  
प्रकार दिया गया है -

सकल ऋतुन में बर्य्य है, अति पुनीत ऋतुराज । ।  
तामधिभोसोत्तम अमल, माधव' मास विराज । ।  
शुक्ल नौमि मंगल दिवस, पुष्य नखत शुभ धाम । ।  
कर्क लग्न मध्याह्न में, सीता प्रगटि ललाम । ।  
तेहि नक्षत्र में कुँअरि सब, प्रगटी कुँअर समेत । ।  
जनक महल आनंद को, सब विधि भयउ निकेत । ।  
अब नक्षत्र के भाव कों, बरणांत हों शुभ वैन । ।  
जौन चरण में जो भई, सो मंगल गुण औन<sup>१</sup> । ।

1. माधव मास = वैशाख, औन = अयन अर्थात् रास्ता ।

## दिनकरजी की प्रथम काव्यकृति का नाम

□डा० श्यामसुन्दर घोष

दिनकर जी की प्रथम काव्य कृति का नाम क्या था? वारदोली विजय या विजय सन्देश?

इस सम्बन्ध में दिनकर जी ने अपनी पुस्तक 'प्रण भंग और अन्य कविताएं' में लिखा है - 'गुजरात में वारदोली का सत्याग्रह-संग्राम सरदार बल्लभ भाई पटेल ने चलाया था। इस संग्राम में जीत

किसानों की हुई थी। मैंने उससे प्रेरणा लेकर दस-बारह गीत लिखे थे जिनका संग्रह

राष्ट्रकवि दिनकर ने अपने काव्यों में भारतीय संस्कृति और इसकी अस्मिता को उभार कर राष्ट्रीय चेतना के जागरण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी इनकी कविताओं ने जनचेतना जगाने का सराहनीय कार्य किया है। ऐसे कवि की प्रथम रचना के नामकरण के विषय में भ्रान्ति का निवारण कर रहे हैं हिन्दी के प्रख्यात समालोचक डा० श्यामसुन्दर घोष।

'वारदोली विजय' के नाम से सन् 1928 ई० में निकला था। खेद की बात है कि इस पुस्तिका की एक भी प्रति मेरे पास नहीं है।' इससे स्पष्ट है कि दिनकर जी 'वारदोली विजय' को अपनी पहली कृति मानते हैं।

कवि के इस कथन पर टिप्पणी करते हुए दिनकर साहित्य के अध्येता और 'दिनकरनामा' के लेखक डॉ० दिवाकर की टिप्पणी है- 'मैं दिनकर जी की इस टिप्पणी के सन्दर्भ में यह कहना चाहूँगा कि दिनकर जी ने अपनी काव्यपुस्तक 'विजय सन्देश' को 'वारदोली विजय' कहा है। यह एक विचित्र बात है कि महाकवि दिनकर जी

अपनी पहली सन्तान 'विजय सन्देश' का नाम भी भूल जाते हैं।' (पृ० 9)

इन दोनों टिप्पणियों से स्पष्ट होता है कि 'वारदोली विजय' और 'विजय सन्देश' नामकरण को लेकर कहीं कोई घपला है। क्यों है ऐसा? यह गुत्थी सुलझानी ही होगी। मैंने अपने इस छोटे से

लेख में यही गुत्थी सुलझाने की कोशिश की है। आशा है दिनकर साहित्य के प्रेमी पाठक इस पर विचार करेंगे।

दिनकर जी की पुस्तक 'वारदोली विजय' का नाम 'विजय संदेश' कैसे हो गया? किसने किया यह परिवर्तन ? दिनकर जी के वक्तव्य से लगता है कि उन्होंने यह परिवर्तन नहीं किया। तो फिर किसने किया यह परिवर्तन? और यह कैसे, और क्यों हुआ?

दिवाकर जी ने ही 'विजय संदेश' और 'रामचरित्र शर्मा' शीर्षक अपने एक छोटे से लेख में लिखा है - 'रामचरित्र शर्मा जी, दिनकर जी के बाल सखा थे। ये स्वतंत्रता सेनानी थे। इन्होंने अपना जीवन राष्ट्र को समर्पित कर दिया था। वे राष्ट्रीय गीतों को गा-गाकर गाँव की जनता को

राष्ट्र के प्रति सजग करते थे। भारत माता की पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ने के लिये जान हथेली पर ले ये जनता के बीच जाते थे, गाते थे और भारत-माता की आरती उतारते थे।' (पृ०-25) मेरे ख्याल है कि इन्हीं श्री रामचरित्र शर्मा ने 'वारदोली विजय' का नाम बदल कर 'विजय संदेश' किया होगा। क्यों किया उन्होंने ऐसा?

इस संबंध में मेरा अनुमान है कि 'वारदोली विजय' नामकरण में उन्हें स्थानीयता की गंध और छाप दिखी होगी। वारदोली की घटना पर आधारित होने के कारण दिनकर जी ने उसका नाम 'वारदोली विजय' रखा होगा। पर तब शेष देश के लोग वारदोली को कितना जानते थे? और वहाँ घटी घटना से उनका क्या और कितना सरोकार रहा होगा?

यह बात रामचरित्र शर्मा जी को जरूर खटकी होगी। इसीलिये उन्होंने वारदोली शब्द हटा कर काव्य में स्थानीयता का जो संस्पर्श था, उसे समाप्त कर उसे शेष भारत के लिये ज्यादा प्रासंगिक बनाना चाहा होगा। उस काव्य को लेकर आखिर उन्हें ही तो जनता के बीच जाना पड़ता था। जनता की नब्ज की उन्हें पहचान रही होगी। जनता को वे वारदोली के बारे में कितना बताते? और बताने पर भी जनता की क्या प्रतिक्रिया होती यह शायद वे जानते रहे होंगे। इसीलिये उन्होंने वारदोली शब्द तो हटा दिया होगा और विजय शब्द रहने दिया होगा। पर केवल विजय शब्द रखने से बात बनती उन्हें न दिखी होगी, इसीलिये उन्होंने इसमें संदेश जोड़कर नामकरण पूरा किया। यह काव्य संदेश प्रधान है भी, और इसे गा-गाकर, या सुना-सुनाकर रामचरित्र शर्मा जनता तक कवि

का संदेश ही तो पहुँचाना चाहते थे, सो उन्होंने पुस्तक का नाम 'विजय संदेश' रख दिया होगा।

इस संबंध में उन्होंने दिनकर जी से कोई राय मशविरा किया, या नहीं, यह प्रश्न जरूर उठता है। इस संबंध में अनुमान है कि शायद उन्हें इसका अवसर न मिला हो, उन्होंने इसकी जरूरत भी नहीं समझी हो। रामचरित्र शर्मा को अपने द्वारा किये गये परिवर्तन में इतना भरोसा रहा होगा कि उन्होंने सोचा होगा कि यह कवि को भी स्वीकार्य होगा। ऐसा सोचना गलत नहीं था।

फिर यह बात भी रही होगी कि तब दिनकर जी अपने कवि जीवन के उषाकाल में थे। अपनी इस छोटी सी रचना को लेकर वे बहुत आग्रही और तत्पर न रहे होंगे। वे तो निरन्तर आगे के बारे में, आगामी कृतियों के बारे में, उसके नामकरण के बारे में, उसके कथ्य और भाषा शिल्प के बारे में सोचते रहे होंगे? उन्होंने अपनी पहली छोटी सी सामान्य कृति अपने बाल सखा श्री रामचरित्र शर्मा को यह कहकर सौंप दी होगी कि वे इसका जो चाहें करें। वे तो उसके प्रकाशन के बारे में भी न सोचते होंगे।

दिनकर जैसा कवि अपने कवि जीवन के प्रारम्भ में महत्वाकांक्षी नहीं रहा होगा, ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। इसलिये वे एक नितान्त सामयिक घटना पर आधारित काव्य को प्रकाशित करके अपने कवि जीवन का प्रारम्भ करते, यह सोचा भी नहीं जा सकता।

फिर यह बात भी है कि कोई भी आत्मचेता कवि अपनी सीमाएँ जानता है। वह अपनी सीमाओं को अतिक्रमित करने की चेष्टा

में भी रहता है। इसलिये भी यदि दिनकर जी ने अपने इस प्रारम्भिक काव्य को अपने मित्र को सौंप कर छुट्टी पा ली हो तो कोई आश्चर्य नहीं। यह तो बहुत बाद में हुआ होगा कि उन्हें अपनी पहली कृति को याद करने की आवश्यकता पड़ी होगी।

कवि के प्रसिद्ध हो जाने पर उसके पाठक प्रशंसक और आलोचक उसके प्रारम्भिक प्रयासों के बारे में जानना चाहते हैं। ऐसे लोगों से दिनकर जी का सबका पड़ता रहा होगा। ऐसे में ही उन्हें अपनी भूली बिसरी कृति की याद आई होगी और 'प्रणभंग और अन्य कविताओं' में उन्होंने ऐसा लिखा होगा। 'वारदोली विजय' ही बाद में 'विजय संदेश' के रूप में प्रकाशित हुआ है, सम्भव है कवि को इसकी जानकारी भी न रही हो। या यदि जानकारी रही भी हो, तो वे कालान्तर में बदले हुए नाम को याद न रख पाये होंगे।

व्यक्ति को अपने दिये नामकरण ही याद रहते हैं, दूसरों के किये नामकरण प्रायः याद नहीं रहते। यही क्यों कभी वह अपने द्वारा किये गये नामकरण को भी याद नहीं रखता। हाँ, उसे कथ्य या थीम याद रह जाते हैं। दिनकर जी के प्रारम्भिक काव्य का विषय वारदोली विजय था, इसलिये उन्हें यही नाम याद रह गया होगा। 'विजय संदेश' नाम के बारे में उन्हें कुछ याद नहीं रहा होगा। इसीलिये उन्होंने प्रण भंग और अन्य कविताएं में उसी नाम का उल्लेख किया है।

पुस्तकों के नाम कई कारणों से बदलते हैं। कभी-कभी तो वे पुस्तक-मुद्रण के अंतिम

चरण में भी बदलते हैं। इसमें प्रकाशक की भूमिका तो होती ही है कभी-कभी मुद्रक की भूमिका भी होती है। 'विजय संदेश' की जो प्रति दिवाकर जी ने ढूँढ निकाली है, उसमें मुद्रक के रूप को रामेश्वर प्रसाद शर्मा, श्री कृष्ण प्रेस, पटना मुद्रित है। सम्भव है पुस्तक के नामकरण में रामेश्वर शर्मा जी की भी, कुछ-न-कुछ भूमिका रही हो। यह मेरा अनुमान भर है। साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशक साधारणतः ऐसे ही प्रेस में मुद्रणार्थ जाते हैं जिसमें स्वामी भी कुछ साहित्यिक रूचि के होते हैं। मेरा अनुमान है कि राम चरित्र शर्मा और रामेश्वर प्रसाद शर्मा दोनों ही साहित्यिक सुरुचि सम्पन्न रहे होंगे। रामेश्वर शर्मा की भूमिका निर्णायक भले न रही हो, पर कुछ-न-कुछ जरूर रही होगी। इस रूप में विचार करने से नामकरण संबंधी गुत्थी सुलझ सकती है। दिवाकर जी ने 'विजय संदेश' को ढूँढ निकालने में जो मेहनत की है उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाये, वह कम है। इसके लिये उन्होंने मेहुस गाँव की कई बार यात्राएँ की। उनके मन में यह बात बैठी हुई थी कि मेहुस गाँव के पुस्तकालय में दिनकर जी की प्रथम कृति जरूर मिलनी चाहिए। मेहुस शेखपुरा और बरबीघा के बीच एक समृद्ध बड़ा और पुराना गाँव है। वहाँ का पुस्तकालय भी बहुत पुराना और समृद्ध है। इसी गाँव में दिनकरजी के छोटे भाई सत्यनारायण सिंह का विवाह हुआ था। इस विवाह में दिनकरजी हाथी पर सवार होकर, दूल्हे के बड़े भाई के रूप में पहुँचे थे। कन्या के पिता का घर बहुत ऊँचे पर था। दिनकरजी हाथी कि पीठ पर से ही उछलकर घर के बरामदे में दाखिल हो गये थे। तो ऐसा था मेहुस गाँव और



दिनकर का संबंध।

अब तक गाँवों में जो पुस्तकालय होते हैं, वे प्रायः किसी गृहस्थ के घर के किसी बाहरी कमरे या बैठकखाने में स्थित होते हैं। वहीं दो-तीन या उससे अधिक काठ की आलमारियाँ या रैक रखे होते हैं और उसी में पुस्तकें रखी या पड़ी होती है। ऐसी पुस्तकालयों में नियमित पुस्तकपाल नहीं होते। जब जो सदस्य आ गया, परिवार का ही कोई सदस्य पुस्तकें ले-दे कर लेता है। पर मेहुस के पुस्तकालय का अपना भवन या नियमित पुस्तकपाल थे। दिवाकरजी ने कई बार मेहुस गाँव की यात्रा की और पुस्तकपाल से जानना चाहा कि दिनकरजी की पहली कृति 'वारदोली विजय' वहाँ उपलब्ध है या नहीं? पर हर बाल पुस्तकपाल ने उन्हें न में ही उत्तर दिया था। वे बार-बार लौट आते थे, पर उनका मन कहता था कि वह पुस्तक मेहुस गाँव के पुस्तकालय में जरूर होनी चाहिये। अंत में उन्होंने पुस्तकपाल से कैटलॉग लेकर उसके पन्ने-पन्ने को, पंक्ति-पंक्ति को ध्यान से जाँचना शुरू किया। ऐसे में उन्हें एक जगह 'विजय संदेश' लेखक रामधारी सिंह दिनकर का उल्लेख पाकर अतीव प्रसन्नता हुई। उन्होंने पुस्तकपाल से वह पुस्तक निकालने को कहा। पुस्तकपाल वह छोटी सी पुस्तिका ले आये। इसके प्रकाशक थे रामचरित्र शर्मा, ग्राम-बीहट (चकबूल), पो०-नूरपुर, मुंगेर, प्रकाशन वर्ष 1928, मूल्य- दो आने। दिवाकर जी की खुशी का ठिकाना न था। वे अपनी इस उपलब्धि पर फूले नहीं समा रहे थे। सचमुच यह उनकी उपलब्धि ही थी। पीछे उन्होंने अपनी टिप्पणियों के साथ यह पुस्तक प्रकाशित कर नाम दिया- 'मेहुस गाँव की मेरी यात्रा और राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर की प्रथम काव्यकृति 'विजय संदेश' की उपलब्धि ।' इस पुस्तिका में उन्होंने कई ऐतिहासिक चित्र भी प्रकाशित किये हैं, जिसमें एक चित्र दिनकर

जी का सन् 1928 की युवावस्था का, एक उपलब्धि ही है। यह चित्र शायद पहली बार 'विजय संदेश' के ब्याज से, दिवाकर जी की इस पुस्तिका में छपकर दिनकर-प्रेमियों को प्राप्त हुआ है। दिवाकरजी ने 'विजय संदेश' का विवेचन भी किया है और उसमें विद्यापति और निराला का प्रभाव सिद्ध किया है। पर दिवाकरजी ने यह कहीं नहीं लिखा कि 'विजय संदेश' 'वारदोली विजय' का ही मुद्रित रूप है। वे शायद यह समझे हुए हैं कि 'विजय संदेश' ही दिनकर जी की पहली कृति है, 'वारदोली विजय' नहीं। इससे यह संकेत जाता है कि 'विजय संदेश' और 'वारदोली विजय' दो अलग-अलग कृतियाँ हैं। तभी तो उन्होंने 'प्रणभंग' और अन्य कविताओं के उद्धरण पर वैसी टिप्पणी की है, कि दिनकर जी अपनी पहली कृति का नाम याद नहीं रख पाये। यदि दिवाकरजी यह स्पष्ट कर सके होते कि 'वारदोली विजय' ही बाद में 'विजय संदेश' के नाम से प्रकाशित हुआ तो अच्छा होता। पर तब उन्हें यह जरूर स्पष्ट करना होता कि यह नाम परिवर्तन क्यों हुआ, किसने किया? इस संबन्ध में कोई साक्ष्य उपलब्ध न होने के कारण वे इस पचड़े में न पड़े। पर जहाँ साक्ष्य नहीं होते, वहाँ भी विवेचन में अनुमान भिड़ाना पड़ता है। हाँ इस अनुमान का कोई आधार जरूर होना चाहिये। अनुमान का यह आधार उनकी जानकारी में था, पर वे उस पर ध्यान नहीं दे पाये। इन पंक्तियों में लेखक ने उसी आधार को लेकर अनुमान भिड़ाय़ा। अब देखना यह है कि लेखक के इस अनुमान को, साहित्य-जगत, युक्तियुक्त मानता है या नहीं।

किसी कवि की प्रथम रचित कृति प्रथम प्रकाशित हो ही, यह जरूरी नहीं। प्रथम रचित कृति में अधकचरापन या न्यूनताएँ होनी स्वाभाविक है। ऐसी कृति को कोई कवि प्रकाशित कर उस कृति के कवि के रूप में साहित्य जगत् के सामने

क्यों आना चाहेगा? हर नवोदित कवि में इतनी समझ तो होती ही है। इसलिये वे प्रारम्भिक रचनाओं में से अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट कृति को ही प्रकाशित करना चाहता है और इस कृति के रचनाकार के रूप में ही पाठकों के सामने आना चाहता है। मुझे लगता है कि दिनकरजी के साथ भी यह ऊहापोह जरूर लगा रहा होगा। उनके 'प्रणभंग' काव्य का प्रकाशन काल है सन् 1929 अर्थात् 'विजय-संदेश' के ठीक एक वर्ष बाद 'प्रणभंग' प्रकाशित हुआ। दिनकरजी बहुत दिनों तक अपनी उस प्रकाशित कृति को ही अपनी पहली कृति बताते रहे होंगे। यह तो बहुत बाद में होता है कि साहित्य में मुकाम पर चुके लेखकों और कवियों से अध्येता खोद-खोदकर अनेक सवाल पूछते रहते हैं-विशेषकर उसके प्रारम्भिक दिनों और रचनाओं के संबंध में। ऐसे में उसे पहली रची रचना की याद आती है। दिनकरजी के साथ ऐसा ही हुआ होगा। यह तो अच्छा हुआ कि रामचरित्र शर्मा ने 'विजय संदेश' को सन् 1928 में प्रकाशित करा दिया था और अब इतने वर्षों बाद, दिवाकरजी ने उसकी मुद्रित प्रति ढूँढ़ निकाली। इस प्रकार दिनकरजी की प्रथम रचित कृति उनकी प्रथम प्रकाशित कृति भी है, ऐसा हम प्रामाणिक रूप से कह सकते हैं, नहीं तो लोग 'प्रणभंग' को ही दिनकर जी की प्रथम कृति मानते रहते, बाबजूद इस बात के कि उन्होंने 'प्रण भंग' और अन्य कविताओं में 'वारदोली विजय' का नाम लिया है। केवल कृति का नाम लेना ही काफी नहीं होता, उसे पाठकों के सामने आना भी चाहिये। दिनकरजी के प्रसंग में यह काम अब जाकर हुआ है, जबकि वे हमारी बीच नहीं हैं। हमें इसके लिये दिवाकरजी का कृतज्ञ होना चाहिए।

ऋतंवरा,

गोड्डा, झारखण्ड-814133

## प्रपत्र नियम ८ के अनुसार

# धर्मायण

१. प्रकाशन का स्थान : पटना
२. आवर्तिता : त्रैमासिक
३. प्रकाशक एवं मुद्रक  
का नाम : प्रो० काशीनाथ मिश्र  
क्या भारत के नागरिक है? : हाँ  
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)  
पता : महावीर मन्दिर,  
पटना जंक्शन, पटना-१
४. सम्पादकमण्डल : प्रो० काशीनाथ मिश्र  
महन्त उद्धवदासजी  
डा० श्रीरंजन सूरिदेव  
आचार्य किशोर कुणाल  
  
प्रधान सम्पादक : भवनाथ झा  
क्या भारत के नागरिक हैं? : हाँ  
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)  
पता : महावीर मन्दिर, पटना  
जंक्शन, पटना-१  
क्या भारत के नागरिक हैं? : हाँ  
(यदि विदेशी हैं तो मूल देश)  
पता : महावीर मन्दिर, पटना  
जंक्शन, पटना-१
५. स्वत्वाधिकार : श्री महावीर स्थान न्यास  
समिति, महावीर मन्दिर,  
पटना जंक्शन, पटना-१

मैं प्रो० काशीनाथ मिश्र एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

ह० प्रो० काशीनाथ मिश्र

## हिन्दी के प्रचार प्रसार में धर्म संवाहकों का योगदान

डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा

हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी प्राचीन भारतीय आर्यकालीन भाषा संस्कृत की औरस कन्या है। संस्कृत के बाद पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं से होती हुई इसने आधुनिक हिन्दी में प्रवेश किया है। अवधी, मैथिली, ब्रजी, मगही आदि लोकभाषाओं ने भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से आधुनिक हिन्दी का भरपूर साज शृंगार किया है।

हिन्दी की मूल प्रकृति आरम्भ से ही धर्म मूलक रही है। यदि हिन्दी साहित्य के

आदिकाल पर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि हिन्दी साहित्य को पल्लवित पुष्पित करने में धर्म का बड़ा हाथ रहा है। सिद्धों और नाथों ने अपने धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन काव्यमयी भाषा में किया। यद्यपि इनकी भाषा तत्कालीन लोकभाषा थी, तथापि इस काल में लोकभाषा और राष्ट्रभाषा का कोई विभाजन ही नहीं था। सिद्धों की भाषा मागधी अपभ्रंश थी। सिद्ध साहित्य के शीर्षस्थ कवि सरहपाद को प्राचीन मगही का कवि

सिद्ध किया गया है। इसके भरपूर प्रमाण भी हैं। अतः सिद्धों तथा नाथों की काव्यभाषा, जो तत्कालीन लोकभाषा ही थी, इनकी सम्पूर्ण कृतियों को आज राष्ट्रभाषा की श्रेणी में ही रखकर अध्ययन मनन किया जाता है। हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल, जो

मध्यकाल के धार्मिक आन्दोलन की अनेक विशेषताओं के साथ एक बड़ी विशेषता यह रही है कि इस काल के सन्तों ने जन-सामान्य से जुड़ने का प्रयास किया, जिसके लिए उन्होंने अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए सर्वप्रथम जनभाषा अपनायी। सन्तों ने जनभाषा में अपने विचार व्यक्त किये; साथ ही अनेक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद तथा भाष्य लिखे गये। इससे सम्पूर्ण भारतवर्ष में तत्कालीन जनभाषाओं का एक साहित्यिक स्वरूप सुदृढ़ हुआ। हिन्दी के सन्दर्भ में डा० तारकेश्वर नाथ सिन्हा की एक रिपोर्ट प्रस्तुत है।

स्वर्णयुग के नाम से हिन्दी साहित्य के इतिहास में सुविख्यात है, इसकी भाषा भी मुख्य रूप से ब्रजी और अवधी है। सिद्धों और नाथों की भाँति इस काल में निर्गुणवादी और सगुणवादी

प्रमुख धर्म-संवाहकों तथा सन्त कवियों ने अपने विपुल एवं उत्कृष्ट भक्ति साहित्य से भारती के भण्डार को परिपूर्ण करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कबीर, कुतुबन, मंझन, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा, घनानन्द, नन्ददास, कुम्भनहास, छीतस्वामी आदि के प्रवचन केन्द्रों एवं धार्मिक संस्थानों के माध्यम से हिन्दी साहित्य के दिव्यांग में अनेक मणि माणिक्य जगमगाने लगे, जो आज बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं।

महात्मा कबीर के अनुयायी भारत के विभिन्न क्षेत्रों में हैं। जगह जगह इनके मठ हैं, जहाँ कबीरपन्थी निरगुनिया सन्त साहित्य हिन्दी में हैं। इनके अनुयायी संवाहक भी कबीर की सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञान के जल से स्नान कराते हैं। श्री कबीर ज्ञान प्रकाशन केन्द्र, गिरिडीह से 'श्री कबीर ज्ञानामृत' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित हो रही है। इसकी सम्पादिका कमलिनी साध्वी हैं। इसमें कबीरदास के अनुयायी सन्तों के उत्कृष्ट आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। सभी आलेख सन्तों की वाणियों से ओत प्रोत होते हैं। इसमें इनकी वाणियों के गूढ़ रहस्यों की सहज व्याख्या मिलती है। इसकी भाषा सधी हुई समुन्नत तथा सधुक्कड़ी होती है।

जैन धर्मावलम्बियों ने भी हिन्दी में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया है। अनेक मठों के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सन्त सधुक्कड़ी भाषा में अपने प्रवचन से जैनियों को परम धर्म अहिंसा की प्रेरणा देकर मानवता का सन्देश दिया करते हैं।

हिन्दी राष्ट्रभाषा के प्रचार प्रसार में ईसाई मिशनरियों का भी कम योगदान नहीं है। ईसा मसीह विषयक हिन्दी में विरचित जीवनी तथा साहित्य की अनेक पुस्तकें मुफ्त अथवा बहुत ही कम कीमत पर उपलब्ध कराई जाती हैं। ईसाई सन्त भी अपने विचार हिन्दी में प्रकट कर इस भाषा के इत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आनन्दमार्ग के संस्थापक बाबा आनन्दजी के द्वारा लिखित अनेक पुस्तकें हिन्दी में उपलब्ध हैं। आनन्दमार्ग की अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं, जिन्होंने अँगरेजी भाषा के साथ साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी की भी अपने विचार विनिमय का अंश बनाया

है। आनन्दमार्ग से हिन्दी की पत्रिकाएँ भी निकलती हैं।

राष्ट्रभाषा के प्रसार प्रचार में स्वामी दयानन्द सरस्वती का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वे वैदिक धर्म के सच्चे संवाहक थे। हिन्दू समाज में प्रचलित रीति रिवाज और कर्मकाण्डों में सुधार करना इनके जीवन का प्रथम इद्देश्य था। इन्होंने आर्यसमाज की स्थापना 7 अप्रैल, 1875 ई० को मुम्बई में की। हिन्दी भाषा अथवा साहित्य का इतिहास लिखने वाले सभी विद्वानों ने हिन्दी गद्य के निर्माण में आर्यसमाज के योगदान को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

महर्षि दयानन्द एक व्यावहारिक सन्त थे। अतः देश की सार्वजनिक गतिविधियों से जुड़कर वे आर्यसमाज का प्रचार करना चाहते थे। इसके लिए इन्होंने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुए अपने मत का प्रचार किया और अनुभव किया कि ऐसी भाषा का प्रचार किया जाए, जिससे उत्तर दक्षिण और पूर्व पश्चिम हर जगह काम चलाया जा सके। यह भाषा राष्ट्रभाषा हिन्दी थी। इन्होंने घोषणा की कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी आवश्यक है और हिन्दी ही आर्यसमाज अर्थात् समस्त देश की भाषा है। इन्होंने यह भी निर्णय लिया कि आर्य समाज का समस्त साहित्य हिन्दी में प्रकाशित हो और हिन्दी ही इसके प्रचार का मुख्य माध्यम हो।

हिन्दी के माध्यम से ही वे भारत में सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक एकता की स्थापना करने हेतु कृतसंकल्प थे। स्वामी दयानन्द और इनके अनुयायियों में हिन्दी के प्रति पर्याप्त उत्साह था। ग्रन्थों की रचना करने के अतिरिक्त इन्होंने कई मासिक और साप्ताहिक

हिन्दी पत्रिकाएँ भी निकालना आरम्भ किया। इससे हिन्दी की पर्याप्त प्रगति हुई। प्रान्तीयता, जातिभेद और अन्य सीमाओं को लाँघकर आर्यसमाज की स्थापना विभिन्न नगरों में हुई, वहाँ हिन्दीप्रेम भी पहुँचा। इसी क्रम में स्वामी दयानन्द ने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद भी किया। इनमें प्रमुख 'वेदभाष्य' और 'संस्कार-विधि' हैं। हिन्दी भाषा को दयानन्द से वैदिक साहित्य की बहुमूल्य निधि मिली है।

'सत्यार्थ-प्रकाश' स्वामी दयानन्द का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। कोई भी ऐसा विषय नहीं, जिसपर इन्होंने प्रकाश न डाला हो। इनकी मातृभाषा गुजराती होने के कारण और संस्कृत अध्ययन के कारण तथा मथुरा में दीर्घकालीन निवास के कारण ब्रजभाषा— इन तीन भाषा शैलियों का मिश्रण 'सत्यार्थ प्रकाश' में मिलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द में समन्वयात्मक दृष्टि थी और इस इद्देश्य के पूर्ति के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी इनके लिए साधन रूप थी। इन्होंने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ जन जागृति के आह्वान हेतु हिन्दी भाषा को मान्यता प्रदान कर इसकी उन्नति के द्वार का उद्घाटन किया। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और शिक्षा के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द की सेवा अद्वितीय है। हिन्दी के लिए राष्ट्रभाषा के भवन निर्माण की नींव भी इन्होंने रखी। इस प्रकार, एक महान् धार्मिक आचार्य दयानन्द के वेदों के अधिकृत ज्ञान, इनके प्रबल सुधारवाद, ओजस्वी व्यक्तित्व, लेखन और प्रचार से हिन्दी भाषा को अभूतपूर्व गति मिली, व्यापकता और लोकप्रियता भी मिली।

हिन्दी राष्ट्रभाषा के स्वरूप निर्धारण में रामायण, महाभारत आदि अमर ग्रन्थों, अपभ्रंश में लिखित अनेक ग्रन्थ, बौद्ध, जैन, ईसाई धर्मों के अनेक साहित्य का अन्यतम सहयोग रहा है। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रसार प्रचार में श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार का नाम धार्मिक रूप में जुड़ा है। इन्होंने 1922 ई० में हिन्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय 'कल्याण' नामक इत्कृष्ट धार्मिक पत्रिका प्रकाशित की, जिसकी ढाई लाख प्रतियाँ प्रत्येक माह प्रकाशित होती हैं। इस पत्रिका के माध्यम से धार्मिक साहित्य के आलेख प्रकाशित किए जाते हैं। भारत के विभिन्न गाँवों तक इसकी व्यापक पैठ है। हिन्दी के पौराणिक एवं धार्मिक साहित्य को लोकप्रिय एवं सर्वजन सुलभ बनाने में गीताप्रेस, गोरखपुर की भूमिका अत्यन्त सराहनीय एवं प्रशंसनीय रही है।

यद्यपि बंगाल प्रदेश की बोल चाल की भाषा बंगला है, तथापि वहाँ से धार्मिक हिन्दी पत्र पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का प्रकाशन पूर्वकाल से ही होता चला आ रहा है। 'रामकृष्ण मिशन' से 'समन्वय' पत्रिका निकला करती थी, जिसमें हिन्दी के महाकवि पण्डित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के दार्शनिक लेख छपा करते थे। इन्होंने कुछ दिनों के लिए यहाँ के सम्पादकीय विभाग में भी कार्य किया था। बिहार के बोध गया, नालन्दा आदि धार्मिक स्थलों से बौद्ध साहित्य एवं पत्रिकाओं का प्रकाशन भी समय समय पर हुआ करता है, जिसकी भाषा प्रमुख रूप से राष्ट्रभाषा हिन्दी ही है।

युगनिर्माण मन्दिर, हरिद्वार धार्मिक प्रचार का मुख्य केन्द्र रहा है। श्रीराम शर्मा आचार्य इसके

संस्थापक थे। इन्होंने हिन्दू वैष्णव धर्म को व्यापक बनाने का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इन्होंने आडम्बर और ढोंग रहित सनातन वैदिक धर्म का प्रचार हिन्दी भाषा के माध्यम से किया है।

इसकी हिन्दी मासिक पत्रिका 'अखण्ड ज्योति' भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी हिन्दी सेवियों के बीच प्रतिष्ठित होती रही है। इसकी भाषा अत्यन्त प्रांजल, निर्भीक, सहज और सुरुचिपूर्ण है। इस पत्रिका में राष्ट्रभाषा के सच्चे स्वरूप के दर्शन होते हैं। युगनिर्माण से नारे के रूप में अनेक उपदेशात्मक वाक्यों के कैलेण्डर, स्टीकर एवं डायरी भी यहाँ से प्रकाशित हैं। उपदेशात्मकता के साथ साथ व्यावहारिकता का मणि कांचन संयोग भी इनमें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। युग निर्माण मन्दिर, हरिद्वार से प्रकाशित पुस्तकें एवं साहित्य हिन्दी प्रचार प्रसार के प्रमुख स्तम्भ हैं। इस संस्था से जुड़े अनेक सन्त स्थान स्थान पर अपने कार्यक्रम आयोजित कर अपने निष्कलुष विचारों से जन समुदाय को ज्ञानामृत का घूँट पिलाते रहते हैं।

हिन्दी के व्यापक प्रचार प्रसार में आचार्य रजनीश का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। वे अन्तरराष्ट्रीय स्तर के महान् चिन्तक, विचारक, सन्त एवं दार्शनिक रहे हैं। इनके अनेक प्रवचन अँगरेजी एवं हिन्दी भाषा में हैं, जो विडियो, टेप एवं पुस्तकों के रूप में संकलित हैं। इनकी पुस्तकों का संकलन अपने आप में एक पुस्तकालय का रूप धारण कर लेता है। इनकी विचारोत्तेजक गम्भीर पुस्तकें सत्यता की कसौटी पर शत प्रतिशत खरी उतरती हैं। इनकी प्रवाहमयी हिन्दी भाषा एक ओर पाठकों को आकर्षित

कर लेती है तो दूसरी ओर इनका तर्क ढोंगियों और बाह्याडम्बरियों का मुँह तोड़ इत्तर देती है। इनके धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी मतों पर भारत तथा विदेश के जाने माने लोग भी न्योछावर हो जाते हैं। इनके प्रवचन अपने आप में एक कविता हैं, जो अपनी लावण्यता तथा माधुर्य भावना के लिए विश्व विख्यात हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार प्रसार में इसकी अभूतपूर्व भूमिका है। कोरेगाँव, पुणे से इनकी मासिक पत्रिका 'आशो टाइम्स' अबाधगति से निकलती है। इसके प्रधान सम्पादक माँ अमृत साधना हैं। भारत एवं विदेश के प्रायः प्रमुख नगरों में इनके अनुयायी पाए जाते हैं, जो इनके विचारों के प्रसार प्रचार में निरन्तर तल्लीन रहते हैं।

पटना से प्रकाशित पत्रिका 'धर्मायण' का भी धर्म प्रचार के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह प्रसिद्ध महावीर मन्दिर से निकलती है। भारत तथा बिहार के स्तरीय धर्म चिन्तकों एवं विद्वानों के लेख इसमें प्रकाशित किए जाते हैं। अल्पावधि में ही धार्मिक साहित्यिक जगत् में इस पत्रिका ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का स्तुत्य कार्य किया है।

हिन्दू धर्म के प्रति नवजागरण किरणों का प्रस्फुटन 19 वीं शताब्दी के इत्तरार्द्ध में विशेष रूप से हुआ था। इसी कालखण्ड में अनेक धार्मिक संस्थाओं की स्थापना अनेक नगरों में की गई थी, जिनके माध्यम से हिन्दी भाषा को भी अतिरिक्त लोकप्रियता प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ भारतेन्दु काल के प्रमुख साहित्यकार पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने 1882 ई० और इसके आस पास के वर्षों में बिहार के विभिन्न नगरों में धर्मसमाज की स्थापना की थी, जिनके

माध्यम से हिन्दी भाषा में हिन्दू धर्म की उत्कृष्टता और श्रेष्ठता पर विद्वानों द्वारा प्रवचन किए जाते थे। ऐसी प्रवचन सभाओं में जनता की सक्रिय भागीदारी विशेष रूप से होती थी।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि ब्यासजी द्वारा स्थापित धर्मसमाज गया, मोतिहारी, मुजफ्फरपुर, चम्पारण आदि नगरों में आज भी जीवित हैं। मुजफ्फरपुर में इनके द्वारा स्थापित धर्मसमाज 20 वीं शताब्दी के प्रथम चरम में संस्कृत कालेज के रूप में परिणत हो गया, जो सम्पूर्ण उत्तर बिहार का सबसे बड़ा संस्कृत कालेज है। इसी प्रकार खड़ी बोली हिन्दीकाव्य में संस्कृत छन्दों का प्रथम प्रयोग करनेवाले कवि चन्द्रशेखरधर मिश्र ने 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चम्पारण के सुदूर क्षेत्र में 'विद्याधर्म-वर्द्धनी' सभा की स्थापना की थी, जो वस्तुतः हिन्दू धर्मप्रचार की ही संस्था थी और इसी संस्था ने 'विद्या धर्मदीपिका' को भी जन्म दिया, जो खड़ी बोली हिन्दीकाव्य को प्रतिष्ठापित करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

विस्तार रूप से ज्यादा कुछ कहना सम्भव नहीं होगा, किन्तु इतना तो सत्य है कि भारत की अनेक धार्मिक संस्थाओं ने हिन्दी भाषा को ही अपने प्रचार का माध्यम बनाया, जिससे हिन्दी की शक्ति और ऊर्जा में अभिवृद्धि ही हुई। इस तथ्य की एक लम्बी परम्परा रही है और यह परम्परा आज भी गतिशील है।

इस प्रकार आरम्भ से ही भारत ऋषि महर्षियों, ज्ञान विज्ञान एवं धर्म संवाहकों का तपः स्थल रहा है। यहाँ के अनेक साधु सन्त और मठाधीश

अपने अपने विभिन्न पन्थों तथा धर्मों का प्रचार प्रसार राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से ही किया करते हैं। आज भी गया, बोधगया, नालन्दा, पटना, पावापुरी, मथुरा, अयोध्या, मुम्बई, चेन्नई, कोलकाता, काशी आदि में अनेक सन्त, ऋषि तथा धर्म संवाहक हैं, जो हिन्दी भाषा में प्रदत्त अपने प्रवचनों से जनमानस को आप्लावित किया करते हैं।

आसाराम बापू, किरीट भाई, मृदुला, माँ भारती, आनन्दमूर्ति गुरु माँ की अमृत वर्षा, सुधांशुजी महाराज का 'जागरण' सरीखे अनेक सन्त ने हिन्दू तथा मानव धर्मों के प्रचार प्रसार में समर्पित हैं। इन सभी सन्तों ने हिन्दी राष्ट्रभाषा को ही अपने प्रवचन का प्रमुख माध्यम बनाया है। इनके प्रवचन हिन्दी के धार्मिक पत्र पत्रिकाओं में छपते हैं या कभी कभी पुस्तक अथवा ग्रन्थ का रूप भी ले लेते हैं। अब तो इनके प्रवचन के टेप के विडियो कैसेट भी उपलब्ध हैं। दूरदर्शन के अनेक चैनलों से इन धार्मिक महात्माओं के प्रवचन प्रसारित होकर सर्वजन सुलभ हो रहे हैं। इस घोर अशान्ति के युग में इनके शान्ति सन्देश अत्यन्त लोकप्रिय भी सिद्ध हुए हैं। अतः हिन्दी राष्ट्रभाषा के प्रचार प्रसार में धार्मिक संवाहकों, धार्मिक संस्थाओं और पत्र पत्रिकाओं की प्रमुख भूमिका आरम्भ से हो रही है। इस ऐतिहासिक भूमिका की अवहेलना नहीं की जा सकती है।

*पूर्व विश्वविद्यालय प्राचार्य,  
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग,  
गया कालेज, गया (बिहार),  
ज्ञाननिकेतन,*

# श्री ओझा का वैदिक चिन्तन

डा० शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

पं० मधुसूदन ओझाजी ने अपने बाल्यकाल और यौवन के अमूल्य समय को जयपुर, दरभंगा और काशी में बिताया निरन्तर बारह वर्ष तक बिना किसी परीक्षा आदि के प्रलोभन विचार के काशी में स्वनामधन्य ऋषिकल्प महामहोपाध्याय पण्डित श्री शिवकुमार जी मिश्र महानुभाव से उन्होंने अहर्निश सभी संस्कृत के विविध विषयों का गम्भीर अध्ययन और ज्ञान संपादित कर लिया।

शिवकुमार मिश्र या शिव कुमार शास्त्री उस काल का समस्त देश

में संस्कृत जगत् का एक प्रतीक नाम था, जिससे समस्त देश के संस्कृत के प्रखरतर पाण्डित्य की चमक झलक सुनते ही समझ में उतर जाती थी। उनके आवास पर प्रातः से रात्रि नौ-दस बजे तक भोजनादि आवश्यक कार्य तथा अल्पतर विश्राम के समय के अतिरिक्त निरन्तर विभिन्न शास्त्रों के संस्कृत के उच्चतम ग्रन्थों का अध्यापन चलता रहता था। छात्रों का एक वर्ग 10 से 100 तक की सीमा में आता, पुस्तक खुलती अध्यापन होता, समय की कोई सीमा नहीं। सीमा यही कि अन्य ग्रन्थ के अध्येता पहुँचे होते और वही अपनी ओर इंगितादि से गुरु का ध्यान दिलाते और गुरु उस ग्रन्थ से पाठ को विश्राम देकर

भारतीय मनीषियों ने अपने स्वाध्याय के बल पर आर्ष ज्ञान को सुरक्षित रखते हुए उसे अगली पीढ़ी तक प्रेषित करने का महनीय कार्य किया है। इसी गुरु-शिष्य परम्परा के फलस्वरूप पिछली शताब्दी तक यह ज्ञान अक्षुण्ण रह सका है। आज यह परम्परा मृतप्राय हो चुकी है। ऐसी स्थिति में प० मधुसूदन ओझा की साधना की गाथा हमारे लिए प्रेरक हो सकती है।

आगन्तुक छात्रों के ग्रन्थ का अध्यापन प्रारम्भ कर देते। नोट करते जाने का कोई क्रम अध्यापन काल में नहीं था। पूर्ण एकाग्रता से गुरु की अध्यापन वाणी का श्रवण मनन साथ ही अबाध गति से चलता रहता, तथा अध्ययन के उपरान्त अपने निवास पर पहुँचकर ये समस्त छात्र अपने-अपने अध्ययन की नूतन उपलब्धियों की

अपनी भाषा अपनी शैली में लिपिबद्ध करते, जिन्हें उस समय की परिभाषा में क्रोड़पत्र और

आज उपलब्ध होने पर उन्हीं को पाण्डुग्रन्थ या पाण्डुलिपि कहा जा रहा है।

श्री मधुसूदन ओझा तब तक रात्रि में शयन नहीं करने के नियम के साथ चल रहे थे जब तक उस दिन की समस्त अध्ययन उपलब्धि को लिपिबद्ध नहीं कर लेते। अन्य छात्रों से इनके अध्ययन और क्रोड़पत्रों की विशेषता यह थी कि जहाँ अन्य छात्रों के पास अपनी-अपनी अधीत पुस्तक के ही क्रोड़ बनते वहाँ श्री मधुसूदन ओझा के अध्ययन और क्रोड़ लेखन में ऋषि शिव कुमार जी के द्वारा पढ़ाये गए उस दिन के सभी ग्रन्थों के क्रोड़ लिखे गए होते क्योंकि श्री ओझा जी ऋषिवर के सामने प्रातःकाल से रात्रि तक निरन्तर उपस्थित रहकर अध्ययनरत थे,



जबकि अन्य छात्र अन्यत्र भी विद्वानों से पढ़ने जाते थे।

बारह वर्षों के इस व्यापक निरन्तर अध्ययन में श्री ओझा जी का अधिकार सभी विषयों के प्रमाणभूत ग्रन्थों पर हो चुका था। अध्ययन के अन्तिम भाग की एक घटना ने श्री ओझा जी के अग्रिम जीवन का एक पूरा कार्यक्रम ही निश्चित कर डाला और प्रस्थान के रूप में गुरुदक्षिणा में उनके ऋषिकल्प महान् गुरु ने उनके अग्रिम समग्र जीवन की उपलब्धि की दिशा निश्चित कर उसको वैदिक वाङ्मय के अध्ययन में अर्पित करने की दक्षिणा मांगी और गुरुमुख से परम्परा प्रदान करते हुए शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ के अनेक पाठ पढ़ा दिये।

अपने महान् गुरु की आज्ञा का प्रत्यक्षर पालन करते हुए श्री ओझा ने वर्तमान राजस्थान प्रान्त की राजधानी उस समय के जयपुर राज्य के कुलक्रमागत राजपण्डित पद को प्राप्त कर राजसी ठाठ से जयपुर में निवास करते हुए भी सारी सुख सुविधाओं का सम्पूर्ण उपयोग वेद विद्या के मनन चिन्तन में करते हुए सर्वथा नवीन मशीनी विज्ञान की पद्धति को अपनाते हुए, फिजिक्स और केमिस्ट्री तथा गणित विज्ञान के सभी विद्वानों के गहन मनन चिन्तन से प्रेरणा ग्रहण करते हुए वेदाध्ययन में सृष्टि के उत्पादक तथा संचालक समस्त मूल और व्यापक तत्वों की वेद मन्त्रों संहिता और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों में गवेषणा समीक्षा की ओर क्रमिक शृंखला की गहन खोज के फलस्वरूप संस्कृत भाषा में गद्य और पद्य शैली में शताधिक ग्रन्थों की रचना कर प्रायः विलुप्त वेद विज्ञान को पुनः क्रमशः प्रकाशित किया।

जयपुर को अपने निवास और अध्ययन और मनन चिन्तन लेखन का स्थान बनाने के साथ ही अपनी गृहपाठशाला में स्वनिर्मित तथा

वेद ग्रन्थों का अध्याप भी उन्होंने उन जिज्ञासु छात्रों की करना प्रारम्भ कर दिया जो शास्त्री आचार्य तथा अन्य परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर इस गहन विद्या को समझने की शक्ति और योग्यता प्राप्त कर चुके थे। इसी अध्यापन काल में स्वामी विवेकानन्द भी अपने जयपुर के निवास काल में उनके समीप अध्ययनार्थ पहुँचे थे और कुछ ही श्रवण कर अपने गन्तव्य पर चले गए। अध्ययनक्रम की छात्र मण्डली में जो विद्वान् सम्मिलित थे आगे चलकर उन्होंने इन विषयों का अपने व्याख्यानों और ग्रन्थों के द्वारा हिन्दी भाषा में पर्याप्त प्रसार किया। आज भी ओझा जी के स्वयं के प्रायः सभी ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हैं। जोधपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में कुछ वर्ष पूर्व एक 'मधुसूदन ओझा प्रकोष्ठ' कार्यरत है जहाँ से हिन्दी अनुवाद के साथ ओझाजी के ग्रन्थों का नूतन परिवेश में निरन्तर सम्पादन और प्रकाशन प्रक्रान्त है।

ज्ञान और विज्ञान की सीमा रेखा को समझते हुए श्री ओझाजी ने प्राचीन वाङ्मय और वर्तमान साइन्स की स्थिति को ज्ञान विज्ञान शब्दों की परिधि में लेते हुए स्पष्ट किया कि वेदवर्णित एक अद्वितीय निर्गुण निर्धर्मक मूल तत्व से अनन्तगुण धर्मों वाले विश्व के निर्माण की क्रमिक प्रक्रिया को समझाना ज्ञान है और अपने समीपस्थ वस्तुजगत् का अन्वेषण करते हुए उनके मूल में सर्व कारक मूल तत्व तक पहुँचना विज्ञान है।

इसी क्रम में उन्होंने ऋक् यजु, साम और अथर्व वेदों के अक्षरात्मक और व्यापक वैज्ञानिक रूपों को स्पष्ट करते हुए ऋक् यजु आदि के वैज्ञानिक स्वरूपों को अपौरुषेय सिद्ध किया। यहीं से उन्होंने उन समस्त शब्दों का भी स्पष्टीकरण किया जो वेदों के विपुल साहित्य या ग्रन्थराशि में प्रयुक्त हैं तथा वेद मूलक समस्त

पुराण, गीता, उपनिषद् आदि में विस्तार से व्याख्यात हैं और जिनके स्वरूप का विस्पष्ट ज्ञान लुप्त हो जाने के कारण वेद के प्राचीन व्याख्या ग्रन्थ इन परिभाषाओं को स्पष्ट न कर केवल यज्ञ की क्रिया कलापों के विवरण तक सीमित हो गए।

श्री मधुसूदन ओझा जी ने बतलाया कि वेद के शब्द, आध्यात्मिक, आधिदैविक, अधिभौतिक और आधियाज्ञिक इन चारों परिवेशों को अपने भीतर गूँथ कर स्थापित किये हुए है। यज्ञ की जो प्रक्रिया पूर्वमीमांसा का व्यापक विषय है उनके ही समान आधिदैविक और आध्यात्मिक परिवेश भी उन्हीं शब्दों के प्रकाशित होते आ रहे हैं, जिस पर और मीमांसा के विद्वानों और वेद के सायण आदि भाष्यकारों का ध्यान नामतः तो गया परन्तु व्याख्याओं में अत्यन्त विरलता से ही यत्र तत्र ये व्याख्याएँ मिलती हैं।

श्री ओझाजी ने आधिदैविक परिवेश की व्याख्याओं को हृदयंगम कराने के लिए 'कादम्बिनी' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। आध्यात्मिक अर्थों के प्रकाशन के लिए दस वादों के निरूपण में प्रत्येक वाद पर एक-एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जिनमें सिद्धान्तवाद या ब्रह्मसिद्धान्त नाम का ग्रन्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा संस्कृत व्याख्या के साथ प्रकाशित होने के उपरान्त अब हिन्दी अनुवाद के साथ राजस्थान पत्रिका प्रकाशन से प्रकाशित हो चुका है। सद्सद्वाद, आवरणवाद, अम्मोवाद, रजोवाद, अमृतमृत्युवाद आदि अनेक दस वादों के पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र विस्तृत ग्रन्थ हैं जिनमें वेदों के आध्यात्मिक तात्पर्य का विशदीकरण करते हुए समस्त तत्कालीन दर्शनों का दिग्दर्शन भी कराया गया है।

इसी प्रकार इतिहास के मूल रहस्य को प्रदर्शित करने वाले इन्द्रविजय, अत्रिख्याति,

माधवख्याति, राघवख्याति आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

पण्डित मधुसूदन ओझाजी मूलतः मिथिला के निवासी थे। वे तत्कालीन जयपुर नरेश महाराजा माधव सिंह का अध्यापन भी करते थे। इंग्लैण्ड के एक विशिष्ट राजकीय उत्सव में श्री ओझा जी जयपुर नरेश के वर्ग में सदस्य बनकर लन्दन भी गए थे और लन्दन के अंग्रेज संस्कृत विद्वानों ने उनको खूब घेरा और संस्कृत भाषा में अनेक व्याख्याओं के आयोजन कराए गए जहाँ उनके दिए गए व्याख्यान 'वेद धर्म व्याख्यान' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुए हैं। उन व्याख्याओं में उन्होंने एक पद्य में अपने व्याख्यान के विषय को 'ब्रह्मविज्ञान' शब्द से ही कहा है-

**यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातना**

**यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने,**

**यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तय-**

**स्तद् ब्रह्मविज्ञानमिदं विलोक्यताम्**

अर्थात् यह वह ब्रह्म विज्ञान है जिसमें पुरातन विषयों का विवरण है परन्तु प्रकार, शैली अभिनव है, श्रुति वाक्य और युक्तियाँ इसमें प्रमाण रूप में गृहीत हैं, इस ब्रह्मविज्ञान का विद्वान् गण विमर्श करें।

इस प्रकार मिथिला की ही नहीं पूरे देश और विश्व की एक महान् ज्ञान ज्योति के रूप में स्वर्गीय विद्यावाचस्पति, समीक्षा चक्रवर्ती श्री मधुसूदन जी ओझा महानुभाव का मनन चिन्तन देश की एक अनुपम उपलब्धि है।

G-28, अरविन्द कॉलोनी,

बी०एच०यू०, वाराणसी

## तपस्वी भक्तो वा भवति परतन्त्रः परचरः

डा० नवीन चन्द्र झा

यह संस्मरण एक ऐसे अनन्य शिवोपासक एवं साहित्य साधक का है जिन्होंने अपना सम्पूर्ण इहलौकिक जीवन ईश्वर भक्ति, सद्ज्ञान एवं सत्कर्म को उत्सर्ग कर दिया।

जगज्जननी जानकी की जन्मभूमि तथा याज्ञवल्क्य, गौतम एवं कणाद जैसे मनीषियों की तपोभूमि मिथिला जहाँ कुमारिल, मण्डन, वाचस्पति, आयाची, शंकर, विद्यापति एवं मदन उपाध्याय जैसे विद्वान्पुत्रांगी

अवतरित हुए वह मिथिला कभी मिथिला नहीं रही क्योंकि यहीं गार्गी मैत्रेयी तथा भारती जैसी महान् विद्वान्पुत्रांगी शास्त्रोचित मार्ग से गार्हस्थ्य धर्म का

पालन करती रहीं और जिन सबके त्याग एवं तप से यहाँ की धरा ने आगे भी ऐसी विशिष्ट विभूतियों को अपने कोख से जन्म दिया जिन्होंने शैव, शाक्त एवं वैष्णव धर्मों के सह-अस्तित्व को अक्षुण्ण रखते हुए इसकी श्रीवृद्धि में अमूल्य योगदान किया।

इसी मिथिला की हृदयस्थली मधुवनी जो उत्तर में नेपाल, दक्षिण में दरभंगा, पूर्व में सहरसा-सुपौल तथा पश्चिम में मुजफ्फरपुर एवं सीतामढ़ी से घिरी हुई है, कर्णाटवंशीय राजा नान्यदेव के समय से ही विद्या,

संस्कृति तथा अध्यात्म का केन्द्र रही है। संस्कृत वाङ्मय तथा वेद, पुराण, उपनिषद् में परिव्याप्त ज्ञान का निदर्शन कराने में भी मधुवनी के पण्डितों का विशिष्ट अवदान रहा है।

मधुवनी के सन्निकट शास्त्रज्ञान की परम्परा के लिए प्रसिद्ध 'मंगरौनी' ग्राम में बुद्धिवर्द्धिनी घाट पर अवस्थित भूमि पर विगत शताब्दी में एक शिवभक्त व्यक्तित्व का जन्म हुआ। अत्यन्त मेधावी फनेवार वंश के अंतिम महामहोपाध्याय भवानी दत्त उपाध्याय

भगवान् शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंगों में बाबा वैद्यनाथ की महिमा अपरम्पार है। उनकी शरण में जो गया उसे सब कुछ मिला ही मिला। उनकी महिमा पर कितने ही ग्रन्थ लिखे गये। विगत शताब्दी में भी मिथिला के एक शिवभक्त प० राजेन्द्र झा ने वैद्यनाथ धाम में निवास करते हुए वैद्यनाथ-शतकम् लघुकाव्य की रचना की, जसका प्रत्येक श्लोक कवि की विद्वत्ता और उनकी ऐकान्तिक शिव-भक्ति का दुन्दुभि-घोष करता है। प० राजेन्द्र झा के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाल रहे हैं, उनके सुपुत्र डा० नवीन चन्द्र झा।

के भागिनेय पक्ष महामहोपाध्याय भैरवदत्त झा की वंश परम्परा में प्रसिद्ध नैयायिक प० वटेश झा तथा पिलखवाड़ निवासी

महामहोपाध्याय प० दुःखमोचन झा (बबुआ झा) की सुपुत्री भवानी देवी के ज्येष्ठ पुत्र रूप में शिव के अनन्य भक्त पाण्डित राजेन्द्र झा ने फाल्गुन कृष्ण चौठ, मंगल तदनुसार 09 फरवरी, 1909 ई० को जन्म ग्रहण किया। ये बाल्यकाल से ही अत्यन्त मेधावी थे और संस्कृत साहित्य में निहित ज्ञान में इनकी गंभीर अभिरुचि थी। खोजपुर निवासी गुरु प० मुक्तिनाथ मिश्र के सान्निध्य में इन्होंने रमेश्वरलता महाविद्यालय, दरभंगा से मध्यमा परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। यहीं

दरभंगा नरेश रमेश्वर सिंह के आग्रह पर राजपुरोहित पं० बलदेव मिश्र ने इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर राज प्राङ्गण स्थित दक्षिण काली मन्दिर में महाकाल प्रणीत 'कर्पूरस्तोत्र' पाठ का सस्वर नित्य वाचन करने के लिए इन्हें नियोजित किया जिसके लिए राज दरभंगा की ओर से प्रायः कोई वृत्ति इन्हें दी जाती थी। इनके द्वारा इक्त भावपूर्ण स्तोत्र का सस्वर पाठ वहाँ आगत भक्तों को आनन्द-विह्वल कर देता था। ऐसी थी इनकी माँ काली में अनन्य भक्ति।

तदनन्तर महावैयाकरण पं० सदानन्द झा (लक्ष्मीपुर) के सक्षम मार्गदर्शन में पण्डित झा ने वैद्यनाथ संस्कृत महाविद्यालय से विहारोत्कल संस्कृत समिति की 1930-31 वर्षीय व्याकरणाचार्य परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर स्वर्णपदक ग्रहण किया। फिर गोवर्द्धन विद्यापीठ, देवघर से हिन्दी साहित्य विशारद की परीक्षा में समुत्तीर्णता प्राप्त की।

काली संस्कृत पाठशाला, देवघर से ही प्रायः 1934 ई० में अध्यापक के रूप में जीवन वृत्ति प्रारम्भ करने वाले श्री झा महोदय शीघ्र ही संस्कृत एवं हिन्दी वाङ्मय तथा व्याकरण के प्रखर एवं यशस्वी विद्वान् के रूप में ख्यात हो गये। इनकी स्मरणशक्ति अद्भुत थी। एक वार जो कुछ पढ़ लेते थे वह इन्हें विस्मृत नहीं होता था। इनकी प्रतिभा एवं पाण्डित्य से प्रभावित होकर बहुदेशीय इच्चतर माध्यमिक विद्यालय, धमदाहा (पूर्णिमा) के विद्यानुरागी एवं यशस्वी संस्थापक पं० उमाकान्त झा ने अनुनय-विनय कर इन्हें इस विद्यालय में स्थापना वर्ष 1936 में ही संस्कृत शिक्षक के रूप में नियुक्त करा लिया और तब से सेवावकाश (1972) एव इसके बाद भी वे वहीं रहकर अध्यापक धर्म का निर्वाह करते रहे। एक अत्यन्त मेधावी एवं यशस्वी संस्कृत-हिन्दी शिक्षक के रूप में वे ज्ञानार्थियों की विविध जिज्ञासा की पूर्ति करते रहे। इनकी विपुल ज्ञान राशि से संस्कृत शिक्षा के प्रति छात्रों की अभिरुचि दिन-प्रति-दिन बढ़ी तथा विद्यालय की प्रतिष्ठा का भी

निरन्तर संवर्द्धन हुआ।

पण्डितप्रवर श्री झा को बाल्यकाल से ही संस्कृत सम्भाषण में ओजस्विता प्राप्त थी। अपनी जन्मभूमि मंगरौनी की प्रशस्ति में इनकी ये पंक्तियाँ आज भी सुनी जाती हैं: -

**यद्धौत धव आकाश एवाप्नोति स्म शुष्कताम् ।**

**तन् मङ्गरौनी वसतेः परविद्यामभीषिणः । ।**

व्याकरणाचार्य परीक्षा में इत्तमोत्तम सफलता के उपरान्त श्री झा ने वेद-पुराण-उपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता का गहन अध्ययन-अनुशीलन किया जिससे ईश्वर भक्ति की इनमें ऐसी धारा बही कि सांसारिक जीवन से इन्हें वैराग्य हो गया और इन्होंने अपने आराध्य शिव की इपासना के लिए तपस्वी का वेश धारण कर लिया और घर-द्वार छोड़कर इतस्ततः भ्रमण करते रहे तथा प्रति दिवस व्रत इपवास तथा संध्या पारण करते हुए शिव नाम की माला जपते रहे। इनकी लघु काव्यात्मक कृति 'तपस्तरङ्गः' के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यह अवधि 1932-33 के बीच की है और वर्षाधिक समय तक वे शिवाराधना में ही तल्लीन रहे।

जननी के मुख से जैसा मैंने श्रवण किया तदनुसार तपश्चर्या के दिनों में ही स्वप्न फल के रूप में इन्हें आशुतोष शिव की एक अत्यन्त महिमामयी तस्वीर प्राप्त हुई जिनकी नित्य पूजा एवं आराधना इनके जीवन की दिनचर्या बन गयी। वे बड़ी ही तन्मयता से चन्दन, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य से सौभाग्य से प्राप्त इस तस्वीर की प्रति दिवस पूजा करते थे और सस्वर भावपूर्ण शिव गीतों से पूजा की समाप्ति करते थे। प्रायः इसी समय से इन्होंने जो भी स्वप्न देखा, पूर्णतः फलित हुआ। स्वधर्मभार्या के स्वर्गीया हो जाने (1969) के वर्षान्तर में ही आशुतोष शिव की वह दुर्लभ तस्वीर नाटकीय रूप से इनसे विलग हो गयी और 'दुःखेषु अनुद्विग्नमना' रहने वाले पण्डित झा जैसे शास्त्रज्ञ भी किस तरह पूजा

काल में फूट-फूट कर बच्चों की तरह रो पड़े थे, यह मुझे बड़ों के श्रीमुख से विश्रुत हुआ। यह इनके जीवन की प्रायः सबसे कारुणिक घटना थी क्योंकि इसके बाद इनका स्वभाव विल्कुल परिवर्तित हो गया और आध्यात्मिक संबल एवं जीने की इच्छा-शक्ति ही जैसे विखण्डित हो गयी।

पाण्डुलिपि रूप में प्राप्त (अप्रकाशित) इनके स्वकीय परिचय 'तपस्तरङ्गः' से जैसा ज्ञात होता है, विविध कायिक एवं मानसिक क्लेश के कारण इन्हें अपना तपस्वी जीवन त्यागना पड़ा किन्तु शिव की अनन्य भक्ति से वे कभी विरत नहीं हुए और शीघ्र ही (1933 ई०) इन्होंने 'वैद्यनाथशतकम्' नाम से शताधिक भावमय श्लोकों का प्रणयन किया जिसे विद्वज्जनों ने संस्कृत वाङ्मय को समर्पित इनकी अनूठी रचना मानी है। आशुतोष महादेव की प्रशस्ति में इनके विविध स्वरूप एवं क्रिया-कलाप का अत्यन्त कलात्मक चित्रण इनकी इस कृति में द्रष्टव्य है। इस भक्तिमय लघुकाव्य का प्रारम्भ इन्होंने निम्न रूप में किया है:—

तपस्वी भक्तो वा भवति परतन्त्रः परचरः ।  
परे लग्नो मग्नो न खलु परतन्त्रः परचरः । ।  
विदिवैतद्विद्वानिह विकुरुते वा न कुरुते ।  
न संशेते शेते हरिरिव विनोदार्णवशये । ।

इस लघु कृति में कवि ने शिवतत्त्व के सम्बन्ध में अनेक उहापोहों का न्याय-शास्त्र की शैली में वर्णन किया है। जिस प्रकार शास्त्र में सिद्धान्ती स्वयं पूर्वपक्ष भी प्रस्तुत कर बाद के द्वारा तत्त्वबोध की ओर अग्रसर होते हैं उसी प्रकार वैद्यनाथ शतकम् में भी पहले नास्तिक के मत का उपादान कर उसका खण्डन सुन्दर ढंग से किया गया है। कवि नास्तिक के समान प्रथमतया शिव की अकिंचनता का वर्णन अज्ञानियों के शब्दों में इस प्रकार करते हैं—

रूपं नापि बलं कलङ्कशिखरो नो वा महत्साधनं  
नाधारो विभवो भवो भवविधिं कुर्यात् कथं तद् वद ।

इत्येवं प्रलपन् कलं हि विपुलं कौतूहलं मन्दधी-  
व्यतिने बहुधा विधातरि ह ते यो वा रहो भाषते । ।

किन्तु इसके खण्डन के क्रम में उन्होंने परम्परानुसार दुर्जन निन्दा की है तथा सम्पूर्ण कृति में परात्पर शिव की यशोगान गाया है। सगुणोपासना के सिद्धान्तों के अनुरूप उन्होंने सर्वप्रथम भगवान् शंकर के स्वरूप का प्रभावकारी वर्णन तीन श्लोकों में किया है—

आस्यं तत्र जटा जटासु विकटा गङ्गासु तेजो घटा  
शेषस्याथ फणा फणासु च कणा विद्युत्प्रभावन्मणेः ।  
भालं तत्र सुभस्म तच्च धवलं चालं सुविन्दुर्मनाक्  
मध्ये चन्द्रकलामला च धवला बालाब्जरूपा सुदृक् ।

भ्रूयुग्मं बहुशः शचीपतिशरस्पर्द्धाकरं लोचने  
मीनदृङ्गदमोचने सुरसुधाधाराधरज्वाधरम् ।  
कण्ठं कम्बुविलासचौरमथ तद् ब्रह्माण्डदाहक्षम-  
क्ष्वेडस्याब्जनिभं सुलक्ष्म तदधो वीक्षेऽक्षमाला फणी । ।

वक्षस्तत्र शिरस्त्रजःपरिमला माला हिमालाचला  
बालाङ्के सुषमा समानचरमा वामापि यस्या विधेः ।  
ब्रह्माण्डैकभरन्ततोऽध उदरं पादौ करं सुन्दरं  
प्रत्येकं मनसा दशाकृतिकृशा हीशाश्रिता जानते । ।

यहाँ उन्होंने भगवान् शंकर के स्थापित स्वरूप का वर्णन किया है; किन्तु कवि को इतने से ही सन्तोष नहीं। समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त भगवान् शिव को एक स्वरूप में बाँधा नहीं जा सकता! अतः उन्होंने कल्पना की है कि पाताल लोक उनके शरीर में कटि ए नीचे का भाग है, पृथ्वीलोक उनके शरीर का मध्य भाग है और स्वर्ग उनका उत्तमांग है, जहाँ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा ये तीन नेत्र हैं; दिशायें कान हैं और वायु उनके निःश्वास हैं। भगवान् शंकर का यह विराट् स्वरूप एकान्त-भक्त का एक दार्शनिक उद्गार है—  
यद्वाऽधो भुवनं हि यस्य वपुषो देशोऽस्त्यधोऽधः कटे-  
मध्ये भूर्भुवनं विभाति भगवन् मध्यप्रेदेशो लघु ।

स्वर्लोकं हि शिरोऽग्नि-सूर्य-शशिनो नेत्राणि कर्णौ दिशो  
वाकाशोऽस्ति न सम्पुटीद्वय वियन्निश्वास आस्ते मरुत् ॥

हुए एवं मिथिला के भक्तों द्वारा बड़ी तन्मयता से गाये  
जाते थे -

आगे भी वे लिखते हैं कि यब सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड  
उनकी लीला भूमि है और प्रत्येक भुवन उनके हाथों  
में पड़ा खिलौना है। आकाश के समस्त तारागण  
उनके दाँत हैं-

लीलाभूमिरिहास्ति यस्य सकलं ब्रह्माण्डमेवाथ यत्  
क्रीडाकन्दुकमस्ति खण्डभुवनं दन्ताश्च तारागणाः।  
रूपं किं नु चकास्ति तस्य यदिति ब्रूते न तल्लज्जते  
श्रुत्वा शिष्टमुखादृतं च निखिलं मत्वा न मे शङ्कते ॥

इसी काव्य में आगे कवि ने भगवान् शंकर के  
बल का यशोगान गाया है। उनके ऐश्वर्य का वर्णन  
किया है तथा सभी प्रकार से साधन-सम्पन्न मानते  
हुए उन्हें प्रत्येक कार्य में समर्थ अघटन-घटना-पटु  
माना है। इस काव्य में ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य  
के आरम्भ में तो कवि ने अपने शास्त्रीय ज्ञान का  
जाल फैलाया है; किन्तु काव्य के अन्त में वे भाव  
विभोर होकर अपनी सत्ता तक भूल गये हैं और  
उनकी लेखनी से विशुद्ध भक्ति का समर्पण-भाव  
विखर गया है-

महत्त्वं माता त्वं हृदयमिह चात्मा त्वमसि वा  
धृतिस्त्वं धाता त्वं मरुदपि च जिह्वा किमु वपुः।  
वचस्त्वं वक्ता त्वं त्वदितरदिहास्ते हि ननु किं  
परो यत् त्वां कश्चित् किमुत महिमानं तव वदेत् ॥

इस संस्कृत रचना के अतिरिक्त उन्होंने अपनी  
मातृभाषा मैथिली तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी कई  
रचनायें की हैं। श्री झा का भक्तिमय गीत संग्रह 'प्रेम  
परिचय' प्रकाशित हुआ जिसका श्रेय श्रीरमेश्वर प्रेस,  
दरभंगा को जाता है जिसने हिन्दी एवं मैथिली के  
इनके गीतों का संकलित संग्रह पुस्तिका रूप में पाठकों  
को उपलब्ध कराया। इसके कुछ गीत अत्यंत लोकप्रिय

(क)

वम वैद्यनाथ गौरीवर शंकर हर हर सब मिलि गाओ।  
क्यों अँटक रहे हो कली कली, आ कामलिङ्ग को धाओ।।  
गेह गाम सुत वाम चाम ये काम नहीं सच आवेंगे।  
नाम-पुञ्ज यह याम आठ सुख-धाम काम में लाओ।।

(ख)

अम्बिके ! जगदेव जननी! क्यों दया आती नहीं!  
सो गयी क्या दीन की यह दुर्दशा भाती नहीं।।  
तू अन्नपूर्णा मा रमा है और हम भूखों मरें।  
मुक्तस्वर से क्यों न कहती, मैं तुम्हारी मा नहीं।।

(ग)

जखन शरण जगदीशक धैलहुँ आनक की दरवार।  
नहिं भिक्षुक भिक्षुक केँ सेवय निकट जँ नृप-दरवार।।

(घ)

शंकर कखन काम पूरण करव हो।  
छन छन वहय नैन, पल नाहिं जिय चैन।  
आवय न मुख वैन, कोना कवह हो।।  
ऊपर कठिन भार तापर गहन धार।  
यदि ने करव पार डुवि दृढ़ मरव हो।।  
औठर ठरन नाम सुनि, कै कठिन काम,  
ऐलहुँ तोहर धाम, पुनि की तजव हो।।  
धैलहुँ यतिक वेष, सहसहुँ विविध क्लेश।  
पुनि की रहल शेष जे हर करव हो।।  
तजि अन्न, सुख, गेह, करि एक पद नेह।  
तप सौं थकल देह कहिया ठरव हो।।  
भै भङ्ग पिवि भेर शंकर, हमर वेर।  
यदि आव दृढ़ देर कनियों करव हो।।  
'राजेन्द्र' अज्ञान धै पुनि पदहिं ध्यान।  
तजने विना प्राण हर की रहव हो।।

सेवावकाश के बाद 1975-76 में पण्डित झा ने  
कविकोकिल विद्यापति द्वारा संस्कृत वाङ्मय में विरचित  
'लिखनावली' ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद अनूठी वर्णनात्मक  
शैली में किया जिसे निदेशक, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्  
के आग्रह पर प्रकाशनार्थ प्रस्तुत किया गया जो आज

तक अज्ञात कारणों से प्रकाशित नहीं हुआ है।

भगवान् वैद्यनाथ उनके उपास्य थे और उनकी स्थली देवघर को वे स्वर्ग से भी महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनकी दृष्टि में वैद्यनाथ के प्रांगण में लिप्सा, वासना अभाव आदि का कोई स्थान नहीं; अतः वर्ष 1984 में अपने वैद्यनाथ धाम प्रवास के क्रम में इस तीर्थस्थल के प्रसंग में अपने अनुभव अपनी डायरी में निम्नवत् अंकित किये—

वैद्यनाथ-प्रांगणे काचिदपि लिप्सा, वासना, अभाव-प्रस्तता, बुभुक्षा पिपासा वा नानुभूता — सर्वतः परिपूर्णतैव अनुमिता। धन्यं तस्य जीवनं यस्यात्रागमनस्य कैलाससुखानुभवस्य चावसरः वत्सरेऽपि कदापि भवति।

।

मिथिला के इस विभूति के जीवन की सार्थकता दो प्रधान रूपों में परिलक्षित होती है। एक यह कि माँ सरस्वती के वरद पुत्र के रूप में अपने अध्यापक धर्म का इन्होंने सम्पूर्ण निष्ठा के साथ निवाह किया। वे श्रेष्ठ पंक्तियों के अध्यापक एवं आचार्य हुए एवं इनके पास ज्ञान का—चाहे वह शास्त्रोक्त हो अथवा विद्यालय-महाविद्यालय के पाठ्यक्रमों में विस्तारित पुस्तकों का—जो भी विशद् भण्डार था इसका इन्होंने खुलकर दान किया। विद्यालय से प्राप्त वेतन के अलावा कभी इन्होंने कोई पारिश्रमिक तदर्थ स्वीकार नहीं किया। सभी ज्ञान पिपासुओं के लिए वे सदा इपलब्ध होते थे और इनकी अभिरुचि का संवर्द्धन करते थे।

इनके जीवन का दूसरा पक्ष इनका अध्यात्म-चिन्तन कहा जा सकता है। इस रूप में वे निश्चय ही अत्यन्त सफलीभूत हुए क्योंकि हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश, सब कुछ इन्होंने अपने अनन्य आराध्य शिव के चरणों में समर्पित कर दिया। बाल्यावस्था में ही इनके दो पुत्रों के निधन एवं शोकाकुल स्वधर्मभार्या के चित्त को शमन करने के गुरुतर दायित्व से किञ्चित विचलित किन्तु शान्त इस

महान् शिवोपासक ने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्म एवं अध्यात्म के चिन्तन में लगा दिया। प्रातःस्मरण स्तोत्र यथा

प्रातःस्मरामि भवभीति महार्तिशान्त्यै  
नारायणं गरुड़वाहनमब्जनाभं।  
ग्राहाहिभूत वरवारण मुक्तिहेतुं  
चक्रायुधं तरुणवारिज पत्रनेत्रम्।।

तथा

ब्रह्मामुरारिस्त्रिपुरान्तकारी  
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च।  
गुरुश्च शुक्रः शनिराहुकेतवः  
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्।।

से शय्या त्याग करने वाले तथा महाकवि वाल्मीकि प्रणीत गंगा स्तवन 'मातःशैलसुतासपत्नि वसुधा शृंगार हारावलिः' से स्नान का प्रारम्भ करने वाले तथा सविधि विधान से नित्य पूजा पाठादि के उपरान्त 'शिव पञ्चाक्षर स्तोत्र' एवं 'शिवमहिम्नस्तोत्र' गाकर पूजान्त करने वाले ये महान कर्मयोगी थे। प्रत्येक सोम व्रत-उपवास, सन्ध्या पूजा, विल्वपत्र पूजा तथा स्वरचित एवं अन्य शिव गीतों के गायन द्वारा व्रत समाप्त करनेवाले वे महान् शिव भक्त हुए। इसी प्रकार, शिवरात्रि के दिन उपवास तथा शिवपुराण के कथा वाचन द्वारा भक्तजनों को आनन्द-विह्वल कर देने वाले ये महान सन्त तथा साधक थे। अपनी जन्मभूमि मङ्गरौनी जाकर ही अपने प्राण उत्सर्ग कर (श्रावण कृष्ण द्वितीया तदनुसार 12 जुलाई, 1987) इन्होंने अपने पीछे 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' के रूप में एक विरासत छोड़ दी।

श्री शिवार्पणमस्तु

## संस्कृत संभाषण का सरल स्वरूप

आचार्य सारंगधर

मानव मस्तिष्क की समस्त संचित ज्ञान राशि संस्कृत-वाङ्मय में सुरक्षित है। विश्व कल्याण की भावना से परिपूर्ण यह भाषा अपनी वैज्ञानिक लिपि एवं शुद्धतम ध्वनि-संकेत के रूप में आसेतु हिमालय विद्यमान है। विश्व के महान विचारकों

ने कलुषित आधुनिकता की अन्धी दौड़ से मुक्ति का मार्ग संस्कृत को ही बताया है। बापू ने संस्कृत को भारत की आत्मा कहा है। संसार के महान् वैज्ञानिक सर सी० वी० रमण ने संस्कृत को ही देश की राजभाषा के पद पर आसीन करने का सुझाव दिया था। इसी प्रकार डा० अम्बेदकर, डा० राजेन्द्र प्रसाद, प० मदन मोहन मालवीय, डा० धमेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, सुभाषचन्द्र बोस प्रभृति अनेक विभूतियों ने संस्कृत को भारत का प्राण कहा था। सर मिर्जा इस्माइल का विश्वास था कि संस्कृत ही विश्व की अन्तर-राष्ट्रीय भाषा हो सकती है।

अन्य भाषाओं की भाँति भाषण, वाचन और लेखन संस्कृत भाषा के मुख्य तीन अवयव हैं। किन्तु मनुष्य संभाषण द्वारा अपनी भावनाओं को जितना व्यक्त कर सकता है उतना वाचन या

लेखन द्वारा नहीं। परन्तु खेद की बात है कि संस्कृत के उच्चतम योग्यताधारी व्यक्ति भी संस्कृत-संभाषण द्वारा भावाभिव्यक्ति नहीं कर पाते। वे ऐसा क्यों नहीं कर पाते, यही इस लेख का प्रतिपाद्य है।

भारतीयों में नामकरण करने की जल्दीवाजी रहती है। बच्चे का जन्म होते ही ग्यारहवें या बारहवें दिन नामकरण हो जाना चाहिए। इसीलिए तो संस्कृत, पालि, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषायें बनीं, नहीं तो हम सीधे तौर पर इन्हें अमुक शताब्दी की संस्कृत भाषा कह सकते थे। जैसे कि अंग्रेजी में चौसर की अंग्रेजी को चौदहवीं शताब्दी की अंग्रेजी कहते हैं और वर्नार्ड शॉ की अंग्रेजी को बीसवीं शताब्दी की। हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी या अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति का संस्कार संस्कृत भाषा के अनुरूप है। इतना ही नहीं, संस्कृत की शब्दाली में अनेक शब्द भी क्षेत्रीय भाषाओं के संस्कृतीकृत रूप हैं। अतः आज संस्कृत भाषा बोलचाल के लिए सीखना कोई कठिन प्रक्रिया नहीं है। प्रस्तुत लेखक ने इसी विमर्श का सत्यापन किया है।

जब कहीं संस्कृत की चर्चा होती है तब दोष दर्शन पटु व्यक्ति प्रायः कह दिया करते हैं कि संस्कृत कठिन भाषा है, इसके व्याकरण के नियम कठिन हैं आदि। समाधान के लिए सर्वप्रथम कठिन भाषा और सरल भाषा की प्रकृति पर विचार करना होगा। संसार की कोई भाषा सरल या कठिन नहीं होती। जिस भाषा के ध्वनि संकेत, शब्दावली और वाक्य विन्यास से हम जितना परिचित रहते हैं, वह भाषा उतनी ही सरल प्रतीत होती है। इसके विपरीत जिससे

हम परिचित नहीं होते वह कठिन प्रतीत होती है।

भारत में मुख्यतः दो परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं - आर्य परिवार की और द्रविड़ परिवार की। बंगला, उड़िया, असमी, हिन्दी, पंजाबी, गुजराती और मराठी आर्य परिवार की भाषाएँ हैं जबकि तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और



मलयालम द्रविड़ परिवार की। आर्य परिवार की बंगला, हिन्दी आदि भाषाओं में तो अस्सी प्रतिशत तक संस्कृत के शब्द हैं जबकि द्रविड़ परिवार की भाषाओं में भी पचास प्रतिशत से कम नहीं है। संस्कृत आदि काल से यहाँ के साहित्य, संस्कृति, धर्म, कला और दर्शन की भाषा रही है और आज भी है। उर्दूवाले बोलते समय भले ही खोज-खोजकर अरबी-फारसी के संज्ञा-विशेषण शब्दों का प्रयोग करते हों किन्तु क्रिया का प्रयोग करते समय पूर्णतः लाचार हो जाते हैं। करना, होना, आना, जाना, खाना प्रभृति क्रिया-प्रयोगों के लिए संस्कृत की शरण में आये बिना कोई उपाय नहीं।

मानक भाषाओं में ही नहीं, क्षेत्रिय भाषाओं में भी संस्कृत के विभक्ति युक्त शब्द उपलब्ध होते हैं। सन्ध्या समय कोई माँ क्रीड़ागन में क्रीड़ा करते अपने बच्चे से कहती है- 'बबुआ अब मत खेलऽ घरे चलऽ, बइठ के लिखऽ।' यहाँ खेल चल और लिख शब्द संस्कृत के लोट् लकार, मध्यम पुरुष एकवचन के क्रमशः खेल्, चल् और लिख् धातु के रूप हैं जो भोजपुरी भाषा में प्रयुक्त होते हैं। अहम् शब्द का परिवर्तित रूप हम है जो भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि भाषाओं में सर्वत्र उत्तम पुरुष एकवचन में ही प्रयुक्त होता है। तात्पर्य यह कि संस्कृत के प्रायः सभी शब्दों का प्रयोग भारतीय भाषाओं में होता है, अतः कठिनता का कोई प्रश्न ही नहीं है।

संस्कृत की वाक्य रचना तो देशी-विदेशी सभी भाषाओं से सरल और सुगम है। हिन्दी का एक वाक्य है- राम विद्यालय जाता है। इसका अँग्रेजी अनुवाद होगा Ram goes to school. क्या इसके शब्दों का क्रम परिवर्तित कर Goes RAm to school. अथवा School goes Ram के रूप में लिखा जा सकता है? कदापि

नहीं। अशुद्धि हो जाएगी। इसी प्रकार 'जाता है विद्यालय राम' या 'विद्यालय जाता है राम' सदृश वाक्यों का प्रचलन भी हिन्दी में नहीं है। किन्तु संस्कृत की वाक्य रचना सरल है। यहाँ इसे किसी भी क्रम में लिखने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। रामः विद्यालयं गच्छति, गच्छति विद्यालयं रामः अथवा विद्यालयं गच्छति रामः प्रभृति सभी वाक्य पूर्णतः साधु हैं तथा प्रचलन में भी हैं। महाकवि कालिदास ने तो अपने महाकाव्य का श्रीगणेश क्रिया पद से ही किया है - 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।'

मनुष्य तो मनुष्य; पशु-पक्षी भी संस्कृत हैं अथवा संस्कृत-संभाषण करते हैं। हाथी एक ऐसा पशु है जो संस्कृत के शब्दों को समझता है और तदनुकूल आचरण भी करता है। जब वह महावत से गच्छ-गच्छ का शब्द सुनता है तब चलना प्रारम्भ करता है। तिष्ठ शब्द सुनते ही वह बैठ जाता है। ये गच्छ और तिष्ठ रूप क्रमशः गम् और स्था धातुओं के लोट् लकार के मध्यम पुरुष एकवचनान्त रूप हैं। कुत्ता एक पालतू पशु है। वह जैसे ही अतु शब्द को सुनता है, दौड़ा चला आता है। अतु शब्द अद् धातु लोट् लकार प्रथम पुरुष के एक वचन का रूप है। अर्थात् भवान् अतु (आप खायें)। मिथिला के प्रकाण्ड पंडित मण्डन मिश्र के तोते को आत्मतत्त्वम् पर शास्त्रार्थ करना भले ही विवादास्पद हो किन्तु आज पिञ्जर बद्ध तोते को गायत्री मन्त्र अथवा अन्यान्य श्लोकों का उच्चारण करते प्रायः सबने सुना होगा।

संस्कृत की स्वीकृत लिपि देवनागरी है जिसकी वैज्ञानिकता विश्व प्रसिद्ध है तथा भगवान् पाणिनि सदृश महा वैयाकरण संसार में दूसरा उत्पन्न नहीं हुआ। अतएव 'संस्कृत कठिन है' ऐसा कहना दोष दृष्टि पटु व्यक्तियों का वाग्विलास है।

फिर भी, जिज्ञासा होती है कि यदि संस्कृत इतनी सरल, सहज, सुगम, बोधगम्य और भारतीय संस्कृति की आधारशिला है तो यह धन-जन की भाषा क्यों नहीं अथवा संस्कृत में एम.ए./आचार्य उपाधि प्राप्त व्यक्ति भी परस्पर संस्कृत-संभाषण से क्यों कतराते हैं। यों तो इसके अनेक कारण हो सकते हैं किन्तु बोलने में आत्महीनता जन्य संकोच, अदम्य इच्छा-शक्ति का अभाव, अशुद्धि का भय, अभ्यास का अभाव प्रभृति प्रमुख कारण हैं।

अपनी वस्तु अथवा अपनी भाषा को अपनाए से राष्ट्र सम्मान की भावना की वृद्धि होती है। किन्तु पाया जाता है कि संस्कृत पढ़े-लिखे लोग भी संस्कृत बोलने में संकोच अथवा ग्लानि का अनुभव करते हैं। उन्हें लगता है कि संस्कृत बोलने से समाज में उनका मान-सम्मान कम हो जाएगा। कतिपय ऐसे लोग हैं जो अशुद्धि-भय-से संस्कृत नहीं बोल पाते। उनका विचार है कि पहले व्याकरण के सभी विधि-विधानों एवं प्रयोग में आनेवाले सभी शब्दों पर अधिकार प्राप्त कर लिया जाये उसके बाद बोलने का काम किया जाये। ऐसे लोग इस कार्य में कदापि सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। किसी पुस्तक से तैरने का नियम पढ़कर अगाध जल राशि में तैरा नहीं जा सकता। भगवान् पाणिनि प्रणीत प्रायः चार सहस्र सूत्रों को कण्ठस्थ करने के पश्चात् भी यह आवश्यक नहीं कि कोई व्यक्ति संस्कृत बोले ही। दूसरी आरे अक्षर-ज्ञान शून्य व्यक्ति भी बड़ी सरलता से संस्कृत-संभाषण कर सकता है। समाज में वैसे लोगों का अभाव नहीं जो अपना हस्ताक्षर भी नहीं कर पाते किन्तु अपनी मातृभाषा में शुद्ध-शुद्ध बोलकर तथाकथित पढ़े-लिखे लोगों को चकित कर देते हैं। दो वर्ष के बालक को अक्षर ज्ञान नहीं होता; किन्तु अपनी मातृभाषा में वह अपने समस्त भावों को व्यक्त कर देता है।

काल, वचन, लिंग आदि की भूल उससे नहीं होती। आज देश में प्रायः दर्जन भर ऐसे गाँव हैं जहाँ के सभी लोग संस्कृत में ही वार्तालाप करते हैं। निश्चय ही वे सभी उच्च योग्यताधारी व्यक्ति नहीं होंगे।

भगवान् पतञ्जलि ने ज्ञान की विशालता का एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है कि बृहस्पति ने इन्द्र को दिव्य सहस्र वर्ष तक शब्दों का पारायण कराया किन्तु अन्त नहीं पा सके। तात्पर्य यह कि यदि देवगुरु बृहस्पति सदृश महान अध्यापक और देवराज इन्द्र सदृश तेजस्वी अध्येता भी दिव्य सहस्र वर्षों में शब्द पारायण नहीं कर सके तो आज नाना प्रपंचों से आवृत अल्पजीवी मानव शब्द ज्ञान का अन्त पाने में समर्थ हो सकेगा, ऐसा कहना हास्वास्पद प्रतीत होता है। अर्थात् संस्कृत संभाषण के लिए न तो व्याकरण ज्ञान की अनिवार्यता है और न ही संसार के समस्त शब्द ज्ञान की। हाँ, यदि अनिवार्यता है तो केवल दृढ़ निश्चय पूर्वक सतत् अभ्यास की। अभ्यासी की बड़ी महत्ता है। उर्दूवालों ने भाषा ज्ञान के लिए एक बड़ी ही अच्छी बात कही है- आती है उर्दू जुबाँ धीरे-धीरे। अर्थात् अभ्यास से आती है। महाकवि रहीम ने **करत-करत अभ्यास के जड़मति होते सुजान** की बात कही है और भगवान् श्रीकृष्ण ने 'अभ्यासेन तु कौन्तेय' कहकर कार्यसिद्धि के लिए अभ्यास की अनिवार्यता स्पष्ट कर दी है।

जो लोग अशुद्धि-भय से संस्कृत नहीं बोलते उन्हें निर्भय होकर निःसंकोच संस्कृत बोलनी चाहिए। अशुद्धि से घबराने की आवश्यकता नहीं। **स्वलनशीलो हि मनुष्यः** कहा गया है।

एक नन्हा सा बालक चलना चाहता है। वह जैसे ही पैर बढ़ाता है, लड़खड़ाकर गिर पड़ता है। किन्तु वह अपना साहस छोड़ता नहीं।

बार-बार अभ्यास करता है और चलना सीख जाता है। बार-बार गिरने वाला वही बालक बड़ा होने पर सौ कि.मी. की दूरी पैदल तय कर लेता है। यदि गिरने के भय से वह चलने का अभ्यास नहीं करता तो कदाचित् पंगु बनकर अभिशप्त जीवन जीने को विवश हो जाता। बैल प्रारम्भ में पाँच कि. ग्राम भार वाले जूए को वहन नहीं कर पाता। उसका कन्धा फूल जाता है। किन्तु अभ्यास करते-करते वहीं बैल बीस कुन्तल भार को आसानी से वहन कर लेता है।

संस्कृत में एक कूप खानक-न्याय है। कुआँ खोदने समय श्रमिक कीचड़ से लथपथ हो जाता है किन्तु उसी कुएँ के निर्मल जल से उसका शरीर स्वच्छ भी हो जाता है। अतएव संस्कृत बोलने के यास करते समय अशुद्धि की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए। शिक्षार्थी को बालक कहा जाता है। 'बालमनोरमा' अथवा 'बालानां सुखबोधाय' में बाल शब्द शिक्षार्थी का ही पर्याय है न कि स्तनन्धय बालक का। संस्कृत शिक्षार्थी चाहे जिस आयु वर्ग का हो, बालक सा ही होता है। अतः उसे पैर डगमगाने की चिन्ता नहीं होनी चाहिए। उसमें तो अदम्य उत्साह का भाव होना चाहिए।

समाज के लोगों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है जिनके लिए संस्कृत संभाषण ऐच्छिक, आवश्यक और अनिवार्य हो सकता है। प्रथम प्रकार के लोग वे हैं, जो अशिक्षित अथवा अल्प शिक्षित हैं। हमारे घर की माताएँ भोजन बनाते समय प्रायः धनिया, हल्दी, मेथी, मरीच, लहसुन, दूध, पानी, जल, गाजर, साग, आम, अन्न, फल प्रभृति शब्दों का प्रयोग तो करती ही हैं। यदि एक-दो दिन के अभ्यास से इन्हें धान्या, हरिद्रा, मेथिका, लशुनम्, दुग्धम्, पानीयम्, जलम्, गाजरम्, शाकम्, आम्रम्, अन्नम्, फलम्, प्रभृति रूपों में कहने लगे तो उनमें विशेष चमत्कार आ

जाएगा। इसका प्रभाव घर के अन्य सदस्यों पर-विशेष कर बच्चों पर भी पड़ेगा। दूसरी श्रेणी में पढ़े लिखे वे लोग आते हैं जिन्होंने संस्कृत की शिक्षा विधिवत् प्राप्त नहीं की है। उनके लिए संस्कृत का ज्ञान अथवा अभिव्यक्ति आवश्यक है। उच्च विद्यालय के गणित का शिक्षक कदाचित् संस्कृत के वर्ग में प्रविष्ट होता है और छात्रों को संस्कृत पढ़ाकर वर्ग से निकलता है तो उसे ग्लानि नहीं होती, बल्कि गर्व होता है। छात्रों और शिक्षकों के बीच उसका सम्मान बढ़ जाता है। किन्तु जो संस्कृत का अध्येता या अध्यापक है उसके लिए तो संस्कृताभिव्यक्ति अनिवार्य है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो खेद का विषय है।

हमारे समाज के कण-कण में संस्कृत इस प्रकार व्याप्त है कि इसके वार्तालाप में कोई विशेष कठिनता नहीं होती। दस-पन्द्रह मिनट के साधारण अभ्यास से प्रथम दिन से ही यह कार्य किया जा सकता है। उदाहरण के लिए किसी सरल धातु (भू या पठ्) के वर्तमान् कालिक नौ रूपों का अभ्यास कर लिया जाय-पठति-पठतः-पठन्ति, पठसि-पठथः-पठथ, पठामि-पठावः-पठामः। इनके साथ पुरुषवाचक सर्वनाम के नौ रूपों - सः-तौ-ते, त्वम्-युवाम्-यूयम्, अहम्-आवाम्-वयम् को क्रमशः जोड़ दिया जाय। अर्थात् सः पठति, तौ पठतः, ते पठन्तिः, त्वम् पठसि, युवाम् पठथः, यूयम् पठथः, अहम् पठामि, आवाम् पठावः, वयम् पठामः। प्रथम दिन के लिए इतना ही अभ्यास पर्याप्त है। और यदि इतना आ गया तो समझिए कि संस्कृत बोलना आ गया। अन्य हजारों धातुओं के रूप पठ् धातु के समान ही होते हैं। अतः पठति-पठतः-पठन्ति का अभ्यास करने वाला लिखाति-लिखातः-लिखन्ति, खेलति-खेलतः-खेलन्ति, हसति-हसतः-हसन्तिः, चलति-चलतः-चलन्ति का अभ्यास अनायास ही कर लेता है।

संस्कृत-संभाषण के लिए कतिपय सरल मार्ग अपनाये जा सकते हैं।

भविष्यत् काल के रूप प्रायः वर्तमान काल के समान ही होते हैं परिस्थिति के अनुसार मात्र ष्य या स्म जुड़ जाता है- पठिष्यति पठिष्यतः पठिष्यन्ति, भविष्यति भविष्यतः भविष्यन्ति, स्थास्यति स्थास्यतः स्थास्यन्ति आदि।

भूतकाल के रूप कुछ कठिन होते हैं अवश्य। किन्तु चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। वर्तमान कालिक रूप में केवल 'स्म' जोड़ दीजिए और देखिये इस डेढ़ अक्षर का चमत्कार। सः पठति (वह पढ़ता है।) सः पठति स्म (वह पढ़ता था), अहं पठामि (मैं पढ़ता हूँ), अहं पठामि स्म (मैं पढ़ता था।)

भूतकाल के लिए लङ्, लुङ् और लिट् लकार होते हैं। तीनों लकारों के प्रयोग में अर्थभेद है। किन्तु किसी युग में इन नियमों का पालन कठोरता पूर्वक नहीं किया गया। लङ् लकार से ही काम चलाया जाता है। यदि इसके रूप भी कठिन लगें तो वान् (क्तवतु) प्रत्यय से युक्त क्रिया पद से काम चलाया जाय। यथा सः अपठत् -सः पठितवान्, त्वम् अगच्छः- त्वम् गतवान्, अहम् अकरवम् - अहम् कृतवान्।

संस्कृत में सहस्रों धातु हैं। इनमें कृ, भू और अस् केवल तीन धातु रूपों का अभ्यास कर सखण्ड क्रिया के द्वारा किसी प्रकार का भाव प्रकाशन किया जा सकता है। यथा बालकः पठति - बालकः पाठं करोति, सः हसति-सः हासं करोति, सीता लज्जते-सीता लज्जां करोति, अहं तिष्ठामि-अहं स्थितिं करोमि। इसी प्रकार छात्रः पठति - छात्रस्य पाठः भवति, छात्रस्य पाठः अस्ति आदि।

एकवचन की अपेक्षा द्विवचन एवं बहुवचन के रूप कुछ जटिल होते हैं। इन्हें एकवचन में परिवर्तित कर सरल बनाया जा सकता है। यथा द्वे बालिके गच्छतः- बालिकाद्वयम् गच्छति, त्राणि फलानि पतन्ति - फल त्रयम् पतति आदि। इसी प्रकार गण, समूह, वृन्द प्रभृति शब्दों के योग से

भी बहुवचन का एकवचन बनाया जा सकता है, यथा वध्वः गच्छन्ति-बधूसमूहः गच्छति, स्त्रियः हसन्ति - स्त्रीगणः हसति, स्त्रीवृन्दं हसति आदि।

अकारान्त शब्दों के रूप अन्य शब्दों के रूप से सरल होते हैं। साधु, गुरु, पितृ, नदी आदि के रूप यदि याद न हो तो उन्हें अकारान्त बनाया जा सकता है। जैसे - साधुः गच्छति - साधुजनः गच्छति, साधवः गच्छन्ति-साधुजनाः गच्छन्ति, गुरवे नमः, गुरुदेवाय नमः, पितरः आगच्छति - पितृचरणाः आगच्छन्ति, नद्याम् नौका तरति - नदी जले नौका तरति।

पंचमी विभक्ति के स्थान पर तः (तसिल्) का निर्मान्त प्रयोग किया जा सकता है। वृक्षात् पत्रं पतति- वृक्षतः पत्रं पतति। इसी प्रकार पाटलिपुत्रः, प्रयागतः काशीतः, छपरातः आदि।

शब्द-पर्याय के लिए अटकना नहीं चाहिए। यदि आयुक्त शब्द स्मरण में न हो तो कमिश्नर शब्द का ही प्रयोग किया जाय-कमिश्नरपदवाच्यः अधिकारी आगच्छति। तोते के संस्कृत-पर्याय के अभाव में तोतापदवाच्यः रटति कहा जाय। इसी प्रकार घोड़ापदवाच्यः, हाथीपदवाच्यः, लोटा पदवाच्यः, ग्लासपदवाच्यः, आदि सभी प्रयोग समीचीन हैं।

सीखने के क्रम में यदि किसी ने अहं पठामि के बदले अहं पठति अथवा रामेण सह सीता गच्छति के बदले रामस्य सह सीता गच्छति ही बोल दिया हो तो उसे डाँटने, प्रतारित करने अथवा चिढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। उसका कार्य तो वैसे सभी लोगों से अधिक प्रशस्य है जो न तो संस्कृत-संभाषण करते हैं और न वैसा करने का प्रयास करते हैं। वाचिक अशुद्धियाँ तो एक-दो दिनों में स्वतः सुधर जाएगी।

ग्राम + पत्रालय - पिरारी

वाया - सुतिहर

जिला - सारण।

## रामनवमी - व्रत निर्णय

भारतीय परम्परा के अनुसार जब जब मानव पर कोई विपत्ति आती है, तब भक्तवत्सल भगवान् अवतार लेकर उनका दुःख दूर करते हैं। अधर्म की वृद्धि से जब पृथ्वी भाराक्रान्त हो जाती है, तब धर्म की स्थापना के

लिए भगवान् का अवतरण होता है। गीता भी श्रीकृष्ण के अवतरण की यहीं व्याख्या करहती है।

दुर्गासप्तशती में भी देवी का यह वरदान-वाक्य है कि - इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति। तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि संक्षयम्। त्रेता युग में रावण के त्रास से आक्रान्त जनों की रक्षा के लिए भगवान् श्रीराम का अवतरण हुआ, जिन्होंने आदर्श को अपने जीवन में उतार कर स्वयं उस पथ पर चलकर समाज को मर्यादा का पाठ पढ़ाया। ऐसे भगवान् श्रीराम के अवतरण का दिन रामनवमी के रूप में मनाया जाता है। अगस्त्य संहिता तथा वाल्मीकीय रामायण के अनुसार भगवान् श्रीराम का जन्म चैत्र शुक्ल नवमी तिथि को पुनर्वसु नक्षत्र में कर्क लग्न में हुआ था। अतः यह पर्व मध्याह्न-व्यापिनी है। रामनवमी व्रत के सम्बन्ध में निर्णय

लेनेवाले प्राचीन शास्त्रकारों में माधवाचार्य (14वीं शती), म० म० रुद्रधर (15वीं शती), म० म० महेश ठाकुर (16वीं शती), कमलाकर भट्ट (17वीं शती) रत्नपाणि (19वीं शती) आदि ने अगस्त्य-संहिता का वचन उद्धृत करते हुए

कहा है कि -

**चैत्रशुक्ले तु नवमी  
पुनर्वसुयुता यदि।**

**सैव मध्याह्नयोगेन  
महापुण्यतमा भवेत्।।**

अर्थात् चैत्र मास के शुक्लपक्ष की नवमी

तिथि यदि पुनर्वसु नक्षत्र से युक्त हो और मध्याह्न काल का योग हो तो यह बहुत पुण्य देने वाली होती है।

इस प्रकार यह पर्व मध्याह्न व्यापिनी है। मध्याह्न काल सामान्य रूप से दोपहर समझा जाता है, किन्तु शास्त्र में दिनमान के आधार पर इसकी अवधि की सूक्ष्म गणना की जाती है। इस काल के सम्बन्ध में गणना नीचे दी जा रही है।

शास्त्र के अनुसार सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त दिन कहलाता है। यह जितने घंटे मिनट का होगा उसे दिनमान कहेंगे। सूर्यास्त के समय का दूना कर लेने पर भी घंटा-मिनट में दिनमान निकल आता है। इस दिनमान का पन्द्रहवाँ भाग एक मुहूर्त कहलाता है। काल की दृष्टि से दिन को पाँच भागों

मर्यादापुरुषोत्तम श्री राम के अवतरण का दिन रामनवमी प्राचीन काल से ही महिमा-मण्डित रहा है। धर्मशास्त्रियों ने इसे नित्य-व्रत की कोटि में रख कर इसके प्रति अपार श्रद्धा प्रकट की है। यह मध्याह्न-व्यापिनी व्रत है। नवमी तिथि, पुनर्वसु नक्षत्र एवं मध्याह्न काल के मान के अनुसार इस व्रत के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रियों ने निर्णय लिया है। दशमी तिथि के मान के अनुसार भी इस व्रत का निर्धारण किया गया है। विभिन्न परस्थितियों में रामनवमी-व्रत के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रीय निर्णय यहाँ प्रस्तुत है।

- सम्पादक

में विभक्त किया गया है – 1. प्रातःकाल 2. संगव-काल 3. मध्याह्न-काल 4. अपराह्न-काल तथा 5. सायाह्न-काल।

**प्रातःकालो मुहूर्तस्त्रीन् संगवस्तावदेव हि।**

**मध्याह्नस्त्रिमुहूर्तः स्यादपराह्नस्ततः परम्।।**

**सायाह्नस्त्रिमुहूर्तः स्याद् यावदस्तं गतो रविः।**

अर्थात् 3 मुहूर्त प्रातः, 3 मुहूर्त संगव, 3 मुहूर्त मध्याह्न, 3 मुहूर्त अपराह्न तथा 3 मुहूर्त सायाह्न कहलाते हैं।

शास्त्रीय निर्णय के अनुसार यह ध्यान देने योग्य है कि नवमी तिथि के मान के अनुसार कुल तीन स्थितियाँ हो सकती हैं – 1. जब एक ही दिन मध्याह्न काल में नवमी हो। 2. जब दोनों दिन मध्याह्न काल में नवमी हो। 3. जब किसी दिन भी मध्याह्न में नवमी न हो। पहली स्थिति में सभी शास्त्रकार एकमत हैं कि रामनवमी उसी दिन होगी, जिस दिन मध्याह्न काल में नवमी तिथि है। दूसरी और तीसरी स्थिति में यह निर्णय लिया गया है कि अष्टमीविद्धा नवमी त्याज्य है। ऊपर दी गयी गणना से स्पष्ट है कि इस वर्ष पहली स्थिति है। अतः अष्टमीविद्धा का त्याग करने की परिस्थिति ही नहीं है।

रामनवमी पर्व के निर्णय में दशमी के मान के अनुसार एक और स्थिति उत्पन्न होती है, जब दशमी तिथि का क्षय हो। ऐसी स्थिति में एकादशी का व्रत करने वालों के लिए रामनवमी-व्रत की पारणा का लोप हो जाता है। इस परिस्थिति में भी अष्टमी विद्धा नवमी के दिन व्रत करने की बात कही गयी है। क्योंकि एकादशी में किसी व्रत की पारणा नहीं हो सकती है।

रामनवमी पर्व के निर्णय के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का सार इस प्रकार व्यक्त किया

जा सकता है।

(क) चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के अवतार-ग्रहण के उपलक्ष्य में रामनवमी व्रत की परम्परा प्राचीन काल से रही है। वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड के 18वें सर्ग के अनुसार चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को पुनर्वसु नक्षत्र और कर्क लग्न में कौशल्या के गर्भ से श्रीराम का जन्म हुआ।

(ख) भारत-रत्न पाण्डुरंग वामन काणे ने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' नामक कालजयी ग्रन्थ में रामनवमी की तिथि के निर्धारण में धर्मशास्त्रीय-ग्रन्थों के आधार पर यह निर्णय दिया है कि यदि नवमी तिथि दो दिन हो, तो जिस दिन मध्याह्न में नवमी तिथि हो उस दिन रामनवमी मनायी जानी चाहिए।

(ग) रामनवमी व्रत के निर्णय में लग्न नक्षत्र एवं तिथि तीनों का समावेश किया जाता है। इस व्रत के सम्बन्ध में निर्णय देते हुए माधवाचार्य (14वीं शती) ने अपने ग्रन्थ 'कालमाधव' में लिखा है –

**चैत्रशुक्ला तु नवमी पुनर्वसुयुता यदि।**

**सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत्।**

इस प्रकार माधवाचार्य ने इसे मध्याह्न-व्यापिनी माना है, अर्थात् जिस दिन दोपहर में नवमी तिथि होगी, उस दिन रामनवमी व्रत होगा। उन्होंने रामनवमी पर्व के सम्बन्ध में विचार कर अन्त में सिद्धान्त रूप में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है – **सर्ववाक्यपर्यालोचनया नक्षत्ररहितापि मध्याह्न व्यापिनी ग्राह्येति सिद्धम्।** (कालमाधव : सं० ३३० ब्रजकिशोर साई, प्रकाशक – चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी प्रथम संस्करण पृ० 285)

(घ) कमलाकर भट्ट कृत प्रसिद्ध धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ 'निर्णय-सिन्धु' के अनुसार भी यह तिथि मध्याह्न-व्यापिनी है। इस ग्रन्थ के अनुसार पूर्व दिन में ही मध्याह्न के समय नवमी तिथि रहने पर उसी दिन व्रत होना चाहिए – **पूर्वेद्युरेव मध्याह्नयोगे कर्मकालव्याप्तेः सैव ग्राह्या**। इस निर्णय के पक्ष में ग्रन्थकार ने अगस्त्य-संहिता के वचन को उद्धृत किया है, जिसके अनुसार श्रीराम का जन्म पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्न में हुआ था। यहाँ यह ध्यातव्य है कि चैत्र मास में मीन लग्न के अन्तिम चरण में या मेष के प्रथम चरण में सूर्योदय होता है। इसलिए कर्क लग्न निश्चित रूप से मध्याह्न के समय होगा। अतः शास्त्रकारों ने इसे मध्याह्न-व्यापिनी माना है। नवमी तिथि की एक अन्य परिस्थिति का भी उन्होंने उल्लेख किया है कि यदि दशमी तिथि का क्षय अथवा वृद्धि नहीं हो तो मध्याह्नव्यापिनी होने के कारण वैष्णवों द्वारा भी अष्टमीविद्धा ही करनी चाहिए – **दशमीवृद्धयभावेऽष्टमीविद्धाया एव मध्याह्नव्यापित्वे क्षये च वैष्णवैरपि विद्वैवोपोष्येत्यर्थः**।

(ङ) धर्मशास्त्र की परम्परा में महामहोपाध्याय महेश ठाकुर का नाम आदर के साथ लिया जाता है। वे मिथिला के राजा भी हुए थे। उन्होंने 'तिथितत्त्वचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में प्रथमतः लिखा है – **चैत्रशुक्ल नवमी रामनवमी, सा च मध्याह्नयोगिनी ग्राह्या**। इसके प्रमाण में उन्होंने अगस्त्यसंहिता को उद्धृत करते हुए लिखा है कि – **चैत्रशुक्ले तु नवमी पुनर्वसुयुता यदि। सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत्**।

**इत्यगस्त्यसंहितोक्तेषु इति मत्कृतस्मृतिरत्नाकरे।**

यदि दोनों दिन मध्याह्न काल में नवमी हो उस स्थिति में अथवा किसी दिन भी मध्याह्न में

नवमी नहीं हो उसी स्थिति में अष्टमीविद्धा नवमी का त्याग होगा अन्यथा यह तिथि मध्याह्न-व्यापिनी है, जिस दिन मध्याह्न में नवमी तिथि होगी, उसी दिन व्रत होगा।

(च) रत्नपाणि मिथिला के एक श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। इन्होंने खण्डवलाकुल के राजा छत्रसिंह की आज्ञा से दरभंगा में कृत्यसागर नामक धर्मशास्त्रीय निबन्ध लिखा था। इन्होंने भी कृत्यरत्नाकर में स्पष्ट कहा है कि यह मध्याह्न-व्यापिनी तिथि है और पुनर्वसु नक्षत्र का योग अत्यन्त प्रशस्त माना गया है – **तथा च दिनद्वये नवमीव्याप्तौ मध्याह्न व्याप्तपुनर्वसुक्षसंयुक्तैव नवम्युपोष्येति सिद्धम्। अथ तादृश्यष्टमीयुक्ताप्युपोष्या स्यादिति तु नाशङ्कनीयम्।** (कृत्यरत्नाकर : पृ० 104, मिथिला शोध संस्थान, दरभंगा 1977 ई०)

(छ) पण्डित रामचन्द्र झा मिथिला के प्रसिद्ध वर्षकृत्यकार हैं। इन्होंने भी वर्षकृत्य के प्रथम भाग में रामनवमी-पूजा के प्रसंग में टिप्पणी के रूप में धर्मशास्त्रीय निर्णय किया है कि यह मध्याह्नव्यापिनी है – **इयं नवमी मध्याह्नव्यापिनी ग्राह्या। तथा हि अगस्त्यसंहितायां – चैत्रशुक्ला तु नवमी पुनर्वसुयुता यदि। सैव मध्याह्नयोगेन महापुण्यतमा भवेत्। (अभावे केवलापि सदोपोष्या नवमीशब्दसंग्रहात्)। दिनद्वये मध्याह्न व्यापिनी चेत् पूर्वदिने पुनर्वसुनक्षत्रयुक्तामपि त्यक्त्वा परैव कार्या। तथा हि तत्रैव – नवमी चाष्टमीविद्धा त्याज्या विष्णुपरायणैः। उपोषणं नवम्यां च दशम्यां चैव पारणम्। पुनश्च तत्रैव – दशम्यादिषु वृद्धिश्चेत् विद्धा त्याज्यैव वैष्णवैः। तदन्येषां च सर्वेषां व्रतं तत्रैव निश्चितम्।**

## आया शुभ त्योहार देश में होली का

डा० नज़ीर मुहम्मद

आया शुभ त्योहार, देश में होली का।  
छाया हर्ष अपार, देश में होली का॥  
डाले गले अबीर की झोली।  
खेलें सब हिल-मिलकर होली।  
मारें भर-भर कर पिचकारी।  
बरसे रंग अपार, देश में होली का।  
आया शुभ त्योहार, देश में होली का ॥१॥  
फागुन आया मन मस्ताया।  
प्रकृति ने भी साज सुजाया॥  
धरती बनी नवेली दुलहिना।  
कर सोलह शृंगार, देश में होली का।  
आया शुभ त्योहार, देश में होली का ॥२॥  
फूलें फूल भरी फुलवारी,  
फूल रही हर डारी-डारी,  
बाला- बाल-वृद्ध बौराए  
कह रहे प्रेम-प्रसार, देश में होली का॥  
आया शुभ त्योहार, देश में होली का ॥३॥  
भारतवासी मन से चाहें,  
विश्व एक परिवार बनायें,  
जग से ईर्ष्या-द्वेष मिटायें।  
डाल अबीर-गुलाल, विश्व पर होली का।  
आया शुभ त्योहार, देश में होली का ॥४॥

रोहतक डिग्गी रोड अलीगढ़



।। श्रीकृष्णाय नमः।।

## सर्वस्व

—श्री अरविन्द मानव

मानव का हो सर्वस्व उन्हीं को अर्पित।  
जिनसे भव भावित परिभावित प्रतिभासित।।

मानव का हो सर्वस्व उन्हीं को अर्पित।

जो सर्वेश्वर, सुखसेतु स्वयं के कारण।  
जिनसे जग का हो प्रभव प्रलय औ पालन।  
जो हो अहेतु भी सर्वहेतु सर्वाशय,  
जो निर्विकार निर्लिप्त निरीह निरामय।

जिनसे ब्रह्माण्ड अखिल प्रच्छन्न प्रदर्शित।

मानव का हो सर्वस्व उन्हीं को अर्पित।

जिनके हित समाधिस्थ होते ऋषि-मुनि-जन,  
जिनके आलोक दिव्य से व्यापित कण कण।  
जिनकी महिमा के वेद उपनिषद् गायक  
जिनकी महिमा के सुर पुराण परिचायक

जिनकी शुभ कथा साधु संगति में चर्चित।

मानव का हो सर्वस्व उन्हीं को अर्पित।

जो धर्म हेतु बहुरूप विविध तनधारी,  
जो निराकार साकार नित्य अविकारी।  
सञ्जन-रक्षक दुर्जन दल वन के दाहक,  
सत्पथदर्शक स्वजनों भक्तों के वाहक।।

जो मंगलकर मंगलमय मंगलमण्डित।

मानव का हो सर्वस्व उन्हीं को अर्पित।

निष्काम किन्तु जो कर्मयोग उद्घोषक,  
कामद आत्मद सर्वद सर्जक संपोषक।  
जिनकी माया से प्रकृति रचित जड़-जंगम,  
संयोग-वियोग जनित यह आगम-निर्गम।।

जिनकी सत्ता से स्वप्न सदृश जग कल्पित

मानव का हो सर्वस्व उन्हीं को अर्पित।

श्री राधाकृष्ण ठाकुरबाड़ी  
सामस, बरबीघा, शेखपुरा

811101

## गङ्गादशहरा-स्तोत्र

ज्येष्ठ शुक्ल दशमी तिथि को स्वर्ग से गंगा के अवतरण के उपलक्ष्य में गंगादशहरा का व्रत किया जाता है। इस दिन गंगा में स्नान करने से दस प्रकार के पापों का शमन होता है। एक अन्य उल्लेख के अनुसार इस दिन गंगा का अवतरण दस योग में हुआ था। ज्येष्ठ मास, शुक्ल पक्ष, दशमी तिथि, मंगलवार या बुधवार, हस्त नक्षत्र, व्यतीपात योग, गर करण, आनन्द योग, कन्या राशि में चन्द्रमा एवं वृष राशि में सूर्य— ये दश योग कहे गये हैं। इनमें से योगों की संख्या जिस वर्ष जितनी अधिक होगी, दशहरा का व्रत उतना प्रशस्त माना जायेगा। यदि ज्येष्ठ में मलमास भी हो, फिर भी मलमास में ही दशहरा होती है। निर्णय-सिन्धु में कमलाकर ने इसे दस दिनों तक चलनेवाला पर्व बतलाया है। उनके अनुसार ज्येष्ठ शुक्ल प्रतिपदा से गंगा के तट पर गंगा स्तोत्र का वृद्धि पाठ प्रतिपदा के दिन एक बार, द्वितीया के दिन दो बार इत्यादि के क्रम से करना चाहिए। इसप्रकार दशमी के दिन दश बार स्तोत्र का पाठ, षोडशोपचार पूजन आदि करना चाहिए। चावल के पीठा से बने जलीय जीवों का समर्पण भी करना चाहिए। स्तोत्र एवं पाठ की विधि धर्म-सिन्धु में उद्धृत किया गया है।

### ब्रह्मोवाच

नमः शिवायै गङ्गायै शिवदायै नमो नमः।  
 नमस्ते रुद्ररूपिण्यै शाङ्कर्यै ते नमो नमः॥  
 नमस्ते विश्वरूपिण्यै ब्रह्ममूर्त्यै नमो नमः।  
 सर्वदेवस्वरूपिण्यै नमो भेषजमूर्त्यै॥  
 सर्वस्य सर्वव्याधीनां भिषक् श्रेष्ठ्यै नमोऽस्तु ते।  
 स्थाणुजङ्गमसम्भूतविषहन्त्र्यै नमो नमः॥  
 भोगोपभोगदायिन्यै भोगवत्यै नमो नमः।  
 मन्दाकिन्यै नमस्तेऽस्तु स्वर्गदायै नमः सदा॥  
 नमस्त्रैलोक्यभूषायै जगद्धात्र्यै नमो नमः।  
 नमस्त्रिशुक्लसंस्थायै तेजोवत्यै नमो नमः।  
 नन्दायै लिङ्गधारिण्यै नारायण्यै नमो नमः॥  
 नमस्ते विश्वमुख्यायै रेवत्यै ते नमो नमः।

बृहत्यै ते नमस्तेऽस्तु लोकधात्र्यै नमो नमः।।  
 नमस्ते विश्वमित्रायै नन्दिन्यै ते नमो नमः।  
 पृथ्व्यै शिवामृतायै च सुवृषायै नमो नमः।।  
 शान्तायै च वरिष्ठायै वरदायै नमो नमः।  
 उच्चायै सुखदोग्ध्र्यै च संजीविन्यै नमो नमः।।  
 ब्रह्मिष्ठायै ब्रह्मदायै दुरितघ्न्यै नमो नमः।  
 प्रणतार्तिप्रभञ्जिन्यै जगन्मात्रे नमोऽस्तु ते।।  
 शरणागतदीनार्तपरित्राणपरायणे ।  
 सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते।।  
 निर्लेपायै दुर्गहन्त्र्यै दक्षायै ते नमो नमः।।  
 परात्परतरे तुभ्यं नमस्ते मोक्षदे सदा।  
 गङ्गे ममाग्रतो भूत्वा गङ्गे मे देवि पृष्ठतः।।  
 गङ्गे मे पारऽयोरेहि त्वयि गङ्गेऽस्तु मे स्थितिः।।  
 आदो त्वमन्ते मध्ये चसर्वं त्वं गां गते दिवि।  
 त्वमेव मूलप्रकृतिस्त्वं हि नारायणः परः।  
 गङ्गे त्वं परमात्मा च शिवस्तुभ्यं नमः शिवे।।  
 य इदं पठति श्रेष्ठं भक्त्या नित्यं नरोऽपि यः।  
 शृणुयाच्छ्रद्धयायुक्तः कायवाक्चित्तसम्भवैः।।  
 दशधा संस्थितैर्दोषैः सर्वैरेव प्रमुच्यते।  
 सर्वान् कामानवाप्नोति प्रेत्य ब्रह्मणि लीयते।।  
 ज्येष्ठे मासि सिते पक्षे दशमी हस्तसंयुता।  
 तस्यां दशम्यामेतच्च स्तोत्रं गङ्गाजले स्थितः।  
 यः पठेद् दशकृत्वस्तु दरिद्रो वापि चाक्षमः।  
 सोऽपि तत्फलमाप्नोति गङ्गां सम्पूज्य यत्नतः।।  
 अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।  
 परदारोपसेवा च कायिकं त्रिविधं स्थितम्।।

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।  
 असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्।  
 परद्रव्येष्वभिधानं मनसानिष्टचिन्तनम्।  
 वितथाभिनिवेशश्च मानसं त्रिविधं स्मृतम्।  
 एतानि दशपापानि हर त्वं मम जाह्नवि।  
 दशपापहरा यस्मात् तस्माद् दशहरा स्मृता।  
 त्रयस्त्रिंशच्छतं पूर्वान् पितृनथ पितामहान्।  
 उद्धरन्त्येव संसारान्मन्त्रेणानेन पूजिता।

अथ मन्त्रः—

नमो भगवत्यै दशहरायै गङ्गायै नारायण्यै रेवत्यै शिवायै दक्षायै अमृतायै  
 विश्वरूपिण्यै नन्दिन्यै ते नमो नमः।।

ध्यान

सितमकरनिषण्णां शुभ्रनेत्रां त्रिनेत्रां  
 करधृतकलशोद्यत्सोत्पलामत्यभीष्टाम्।  
 विधिहरिहररूपां सेन्दुकोटीरजुष्टां  
 कलितसितदुकूलां जाह्नवीं तां नमामि।।

आदावाद्यपितामहस्यनिगमव्यापारात्रे जलं  
 पश्चात् पन्नगशायिनो भगवतः पादोदकं पावनम्।  
 भूयः शम्भुजटाविभूषणमणिर्जह्मोर्महर्षेरियं  
 देवी कल्मषनाशिनी भगवती भागीरथी दृश्यते।।

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि।  
 मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति।।

U

## बुद्धावतार-स्तुति

मधुसूदन मिश्र रचित महानाटक और दामोदर मिश्र कृत हनुमन्नाटक के अतिरिक्त इस परम्परा में एक अन्य संस्करण भी जयपुर में उपलब्ध हुआ है, जो काशीश्वर द्वारा संकलित माना जाता है। महानाटकों की इस परम्परा के साथ एक अन्य काव्य भी उपलब्ध हुआ है, जिसकी रचना का श्रेय भी ज्ञानियों में अग्रगण्य हनुमानजी को परम्परानुसार दिया गया है। **खण्डप्रशस्ति** नामक इस काव्य पर दो संस्कृत टीकाएँ भी उपलब्ध हैं— १. कीका रचित पञ्जी एवं २. गुणविनय रचित सुबोधिका। सम्पूर्ण खण्डप्रशस्ति ग्रन्थ का प्रकाशन इन दोनों टीकाओं के साथ राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जयपुर से १९७५ ई० में हुआ है।

इस 'खण्डप्रशस्ति' काव्य में श्रीराम को विष्णु का स्वरूप मानकर उनके विविध दस अवतारों का काव्यमय वर्णन किया गया है। इसी क्रम में नवम अवतार के रूप भगवान् बुद्ध का वर्णन तीन श्लोकों में किया गया है। 'धर्मायण' के प्रबुद्ध पाठकों के लिए हिन्दी अनुवाद के साथ यहाँ उन्हें उद्धृत किया जा रहा है।

**षट्चक्रक्रमभावनापरिगतं हृत्पद्ममध्यस्थितं**

**सम्पश्यन् शिवरूपिणं लयवशादात्मानमध्याश्रितः।**

**युष्माकं मधुसूदनो बुधवपुर्धारी स भूयान्मुदे**

**यस्तिष्ठेत् कमलासने कृतरुचिः बुद्धैकलिङ्गाकृतिः।।**

चित्त की एकाग्रता के फलस्वरूप आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा - इन छह चक्रों के द्वारा क्रमिक ध्यान के फलस्वरूप जानने योग्य तथा अपने हृदय रूपी कमल पर स्थित शिव स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले, पद्मासन लगाकर बैठे हुए, तथा स्थितप्रज्ञ योगी का स्वरूप वाले बुद्धरूप धारण करने वाले, भगवान् विष्णु आपलोगों का कल्याण करें।

**बद्ध्वा पद्मासनं यो नयनयुगमिदं न्यस्य नासाग्रदेशे**

**धृत्वा मूर्त्तौ च शान्तौ शमरसमिलितौ चन्द्रसूर्याख्यवातौ।**

**पश्यन् नन्तर्विशुद्धं किमपि च परमं ज्योतिराकारहीनं**

**सौख्याम्भोधौ निमग्नः स दिशतु भवतां ज्ञानबोधं बुधोऽयम्।।**

पद्मासन लगाकर बैठे हुए अपनी आँखों को जिन्होंने अपनी नाक के अग्रभाग पर टिका लिया है, जिनका शरीर अत्यन्त शान्त है, चन्द्र और सूर्य नामक दो वायु शान्त रस के साथ सम्मिलित होकर शरीर के विशुद्ध अन्तःकरण में निराकार परम ज्योति का दर्शन कर रहे हैं तथा सुख के सागर में निमग्न हैं ऐसे बुद्धावतार आप लोगों के ज्ञान को उद्बुद्ध करें।

**रेतोरक्तमयान्यमूनि भविनां विष्मूत्रपूर्णोदरा-**

**प्यालोक्येव कलेवराणि विगलत्तोयार्द्ररन्धाणि यः।**

**मायाजालनियन्त्रिताणि घृणया नोन्मीलयत्यक्षिणी**

**निर्व्याजप्रणिधाननिश्चलमतिर्बुद्ध्यै स बुद्धोऽस्तु वः।।**

जिन्होंने प्राणियों के रेत और शोणित से बने, विष्ठा तथा मूत्र से भरे हुए उदर वाले, टपकते हुए जल से भरे छिद्रों वाले तथा माया-जाल से नियन्त्रित इस शरीर को देखकर ही करुणा से भर कर अपनी आँखें नहीं खोलते तथा निश्च्छल समाधि से जिनकी बुद्धि बृढ़ हो गयी है, ऐसे भगवान् बुद्ध आपकी बुद्धि को प्रशस्त करें।

>

**तपस्वी भक्तो वा भवति परतन्त्रं परचरः**

**परे लग्नो मग्नो न खलु परतन्त्रं परचरः।**

**विदित्वैतद्विद्वानिह विकुरुते वा न कुरुते**

**न संशेते शेते सुखमतुलतल्पेऽहनि निशि।।**

(प० राजेन्द्र झा कृत 'वैद्यनाथ -शतकम्' (अप्रकाशित) से)

कोई तपस्वी हो या भक्त उसका अपना कुछ नहीं होता है, वह अपने स्वत्व का त्यागकर परतन्त्र और दूसरे के अनुसार कार्य करने वाला बन जाता है। लेकिन पर ब्रह्म में ध्यान लगाकर उनमें निमग्न हो जाने पर वह परतन्त्र अथवा परानुयायी नहीं होकर स्वतन्त्र हो जाता है, मुक्त हो जाता है। यही ज्ञान प्राप्तकर विद्वान् इस संसार में किसी कार्य के प्रति उन्मुख अथवा उससे विमुख होते हैं। ऐसे विद्वानों के मन में कोई सन्देह नहीं बच जाता है। वे दिन-रात सुख रूपी अतुलनीय पलंग पर शयन करते हैं।

## व्रत-त्योहार

नववर्षारम्भ :	१ जनवरी,	शनिवार
मकर संक्रान्ति :	१४ जनवरी	शुक्रवार
संकष्ट चतुर्थी / गणेश चौठ (संकष्टहर गणपति व्रत) :	२६ जनवरी	
नरक निवारण चतुर्दशी :	७ फरवरी	सोमवार
मौनी अमावस्या :	८ फरवरी	मंगलवार
कलि-वर्षारम्भ :	८ फरवरी	मंगलवार
वसन्त पंचमी :	१३ फरवरी	रविवार
अचला सप्तमी / रथ सप्तमी :	१५ फरवरी	मंगलवार
माघी पूर्णिमा :	२४ फरवरी	गुरुवार
रविदास जयन्ती :	२४ फरवरी	गुरुवार
महाशिवरात्रि :	८ माच	गुरुवार
होलिका दहन :	२५ मार्च	शुक्रवार
चैतन्य महाप्रभु जयन्ती :	२५ माच	शुक्रवार
होली :	२६ माच	शनिवार
वासन्त नवरात्र		
रामनवमी व्रत :	१७ अप्रैल	
अक्षय तृतीया, परशुराम जयन्ती :	११ मई	
श्री जानकी नवमी :	१७ मई	
नरसिंहावतार :	२२ मई	
वटसावित्री व्रत :	६ जून	
सोमवती अमावस्या :	६ जून	
गंगा दशहरा :	१७ जून	

जनवरी-जून २००६ ई०

(८०)

धर्मायण



## मन्दिर समाचार परिक्रमा

दि० ४-१२-२००५ को ३:०० बजे अपराह्न में चिड़ैयाटॉड पुल के समीप कंकड़वाग मुख्य-मार्ग पर **द्वारकापीठ के पूज्यपाद जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज** के करकमलों द्वारा **महावीर आरोग्य संस्थान** के नूतन परिसर का उद्घाटन किया गया। पूर्व में यह अस्पताल कंकड़वाग में ही किराये के भवन में चलता था। अब इसका अपना विशाल परिसर हो जाने से यह निश्चित रूप से जन-कल्याण के लिए बेहतर साबित हो सकेगा।

महावीर मन्दिर न्यास, पटना की ओर से संस्कृत के संरक्षण के लिए अष्टाध्यायी-महाभाष्य प्रक्रिया से पठन-पाठन हेतु **पाणिनि-प्रज्ञा-पीठम्** की स्थापना की गयी है। **द्वारकापीठ के पूज्यपाद जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज** के करकमलों द्वारा **महावीर आरोग्य संस्थान** के नूतन परिसर में किया गया। विद्यालय में छात्रों के भोजन, आवास, वस्त्र पठन-पाठन की सारी सुविधा निःशुल्क उपलब्ध है। यहाँ जाति के बन्धन से ऊपर उठकर आठ से दस वर्ष की उम्र के मेधावी बच्चों का नामांकन किया जाता है।

दिनांक ११-१२-२००५ को महावीर मन्दिर परिसर में विगत वर्षों की भौति गीता-जयन्ती का समारोह नवस्थापित पाणिनीयप्रज्ञा-पीठम् के छात्रों द्वारा मंगलगान के साथ प्रारम्भ हुआ। परम्परानुसार इसी दिन भगवान् श्रीकृष्ण ने महाभारत युद्ध में मोहग्रस्त अर्जुन को गीता का उपदेश देकर उन्हें कर्तव्य पथ पर अग्रसर किया था। गीता के महत्त्व पर बोलते हुए मन्दिर के परमाचार्य श्री उद्धव दासजी ने कहा कि गिरे हुए मोहग्रस्त लोगों के उत्थान के लिए गीता के उपदेश महत्त्वपूर्ण हैं। गीता का उपदेश वैराग्य के लिए नहीं कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने के लिए है।

इस अवसर पर संस्कृत के विद्वान् पं० गोविन्द झा को उनकी कृति अष्टाध्यायी की 'हृद्या' व्याख्या पर परम्परा के संरक्षक विद्वान् के रूप में सम्मानित किया गया। पं० गोविन्द झा ने गीता के तीन उपदेश ज्ञान, कर्म और भक्ति को जीवन की तीन अवस्था के रूप में व्याख्यायित करते हुए उसे अपनाने का संदेश दिया। उन्होंने पाणिनि की परम्परा में संस्कृत के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया तथा महावीर मन्दिर द्वारा इस पद्धति से छात्रों को पढ़ाये जाने पर प्रसन्नता व्यक्त की।

संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति डा० सुरेन्द्र ब्रह्मचारी ने कहा कि गीता समन्वय का सिद्धान्त सिखाती है। पं० भवनाथ झा ने अष्टाध्यायी का परिचय देते हुए कार्यक्रम का संचालन किया। प० श्री जटेश झा ने धन्यवाद-ज्ञापन किया।

महामहिम राष्ट्रपति महोदय के कर-कमलों से दिनांक ३०-१२-२००५ को पूर्वाह्न ११:०० बजे महावीर कैंसर संस्थान में बाल-कैंसर रोग उपचार (Paediatric Oncology) के लिये नव-निर्मित वार्ड का उद्घाटन किया गया।

दि० २१ जनवरी को महावीर मन्दिर द्वारा संचालित महावीर नेत्रालय का शुभारम्भ विहार के माननीय मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार के कर-कमलों द्वारा किया गया। यहाँ नेत्र-चिकित्सा की अत्याधुनिक सुविधायें कम शुल्क पर उपलब्ध करायीं गयीं हैं।

दि० १३ फरवरी २००६ को इन्च वर्षों की भाँति मन्दिर परिसर में सन्ध्या ५:०० बजे से सन्त रविदास की जयन्ती का कार्यक्रम पाणिनि-प्रज्ञापीठम् के छात्रों द्वारा प्रस्तुत मंगलाचरण से आरम्भ हुआ। इस कार्यक्रम के अध्यक्ष डा० महावीर दास तथा मुख्य अतिथि के रूप में डा० विलट पासवान विहंगम थे। अन्य वक्ताओं में गौड़ीय मठ के श्रीदीनदयाल ब्रह्मचारी, श्री अशोक प्रभाकर, डा० एस० एन० पी० सिंहा आदि प्रमुख थे। कार्यक्रम का संचालन महावीर मन्दिर के प्रकाशन प्रभारी भवनाथ झा ने किया। महावीर मन्दिर द्वारा संचालित 'सन्त रविदास सेवा समिति, पटना' द्वारा एक **शोभा-यात्रा** भी निकाली गयी। मन्दिर के सचिव आचार्य किशोर कुणाल ने भी अपना उद्गार प्रकट करते हुए सन्त रविदास की जयन्ती के अवसर पर सामाजिक समरसता का पाठ सीखने के संकल्प पर जोड़ दिया। सभा के प्रति धन्यवाद-ज्ञापन महावीर मन्दिर के प्रधान पुजारी श्री सूर्यवंशी दास फलाहारी ने किया।

सन्त रविदास या रैदास भारत की सन्त परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। संवत् १४३३ में माघ पूर्णिमा' को रविवार के दिन तथाकथित 'अछूत घर' में एक ऐसे 'रवि' का उदय हुआ, जिनके तेज से जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के अन्धकार का नाश हुआ, जिनके पवित्र-चरित के सम्मुख रूढ़वादियों को बार-बार झुकना होना पड़ा और जिसने सरल भक्ति की ऐसी सुन्दर सरिता प्रवाहित की, जिसमें डुबकी लगाने से न केवल दलितों और पतितों को ही अनिवर्चनीय शान्ति मिली बल्कि सम्पूर्ण समाज उस सरिता की धार से पवित्र हो चला। सन्त रविदास की वाणी में सात्त्विक भक्ति का प्रवाह मुख्य रूप से पाया जाता है।

बिहार के माननीय मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार के कर-कमलों से कोनहारा घाट, हाजीपुर में दि० १८-०२-२००६ को राष्ट्रीय सम विकास योजना के अन्तर्गत तीन परियोजनाओं का शिलान्यास किया गया है। इनमें प्रथम परियोजना टर्मिनल केयर सेंटर **जीवन-ज्योति** है, जहाँ मरणासन्न रोगियों, विशेष रूप से कैंसर के मरणासन्न रोगियों की देखभाल की जायेगी। यह दो करोड़ बीस लाख रुपये की सह-परियोजना है, जिसमें २० प्रतिशत अर्थात् ४४ लाख रुपये का सहयोग महावीर मन्दिर न्यास समिति करेगी। दूसरी परियोजना के अन्तर्गत अनाथाश्रम **अच्युत-धाम** का निर्माण कराया जा रहा है। यह एक करोड़ रुपये की परियोजना है। इसमें बिहार के अनाथ बच्चों को रखा जायेगा और उनके भरण-पोषण और शिक्षा की व्यवस्था उनके पुनर्वास तक की जायेगी। एक अन्य अन्तर्वर्ती परियोजना **कल्याण-मण्डप** की है, जहाँ आदर्श विवाह-संस्कार के लिए सुविधायें उपलब्ध करायी जायेंगी। साथ ही एक **रोग-निरोध केन्द्र** की भी स्थापना की जा रही है, जहाँ प्राकृतिक-चिकित्सा, आयुर्वेद एवं योग के द्वारा रोगों की रोकथाम के लिए सेवायें प्रदान की जायेंगी। सभी परियोजनायें एक वर्ष के अन्तर्गत पूरी कर ली जायेंगी।

महावीर मन्दिर के द्वारा कोनहारा घाट के समीप एक भव्य मन्दिर का निर्माण कराया जा रहा है, जहाँ पूर्व में भी एक मन्दिर था। महाशिवरात्रि के दिन दि० २६ फरवरी को स्वयंभू शिवलिंग के साथ समस्त शिव-परिवार की मूर्तियाँ, जो जयपुर से मँगायीं गयी हैं, स्थापित की गयी हैं।

दि० ३० अप्रैल को महावीर मन्दिर द्वारा संचालित शैशव एवं मातृत्व को समर्पित महावीर वात्सल्य अस्पताल का शुभारम्भ बिहार के माननीय मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार के कर-कमलों से किया गया। यहाँ गर्भाधान से लेकर छह वर्ष तक के बच्चों की चिकित्सा के साथ सुरक्षित प्रसव की सुविधा अल्प शुल्क में सेवा भावना के साथ कराने की सुविधा होगी।

## वैदवाणी

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 115वें सूक्त संसार के प्रकाशक सूर्य को समर्पित है। इसके ऋषि कुत्स हैं। केवल छह मन्त्रों के इस सूक्त में सूर्य के लौकिक एवं अलौकिक दोनों रूपों का वर्णन किया गया है। प्रातःकालिक सूर्य की छटा एवं प्राची क्षितिज की लालिमा उषा के उदय के अनन्तर उनका आगमन काव्यात्मक छटा विखेरती है। ऋग्वेद में उपमा अलंकार का सुन्दर उदाहरण इस सूक्त में आया है, जहाँ सूर्य उषा नायिका का अनुगमन करनेवाला नायक कहा गया है। धर्मायण के प्रबुद्ध पाठकों के लिए यह सूक्त यहाँ पर्यवेष्टित है।

**चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याब्नेः।**

**आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुत्थश्च।।**

मित्र वरुण और अग्नि के नेत्र तथा देताओं के दीप्तिमान् मुख स्वरूप सूर्य आकाश में उदित हो गये हैं। स्थावर और जंगम की आत्मा सूर्य ने द्यु-लोक पृथ्वीलोक और अन्तरिक्ष को प्रकाश से भर दिया है।

**सूर्यो देवीमुखसं रोचमाना मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।**

**यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रतिभद्राय भद्रम्।।**

जिस प्रकार मनुष्य अपनी स्त्री का अनुगम करता है, उसी प्रकार सूर्य उषा का अनुगमन करता है, जहाँ कल्याण के लिए देवों की कामना करने वाले लोग अपनी पत्नी के साथ कर्म-परम्परा का विस्तार करते हैं।

**भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतन्वा अनुमाद्यासः।**

**नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः।।**

हमारे लिए आशीर्वाद लाते हुए, सूर्य के पीले चमकीले हरे, शीघ्रगामी प्रशमसनीय घोड़े हैं। उन्हीं के पृष्ठ पर आकाश पर झुकते हुए चढ़ते हैं। एक क्षण में ही सूर्य स्वर्ग और पृथ्वी को पार कर लेते हैं।

**तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं संजहार।**

**यदेदयुक्तः हरितः सधस्थात् आद्रावीवासस्तनुते सिमस्मै।।**

यह सूर्य का देवत्व है, यह उनकी महिमा है कि अभी तक जो अन्धकार अपना जाल फैला रहा था उसे उसने दूर कर दिया। इन्होंने अस्तबल में जब घोड़ों को जोता तब रात्रि अपना परिधान सब ओर फैला रही थी।

**तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्यौरुपस्थे।**

**अनन्तमन्यद्दुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्हरितः संभरन्ति।।**

मित्र तथा वरुण की ज्योति बनने के लिए सूर्य ने अपने गौरव को आकाश के वक्षःस्थल पर स्थापित किया। सूर्य के अश्व एक अन्तहीन क्रम में अभी प्रभात तथा एक बार अन्धकार को लाते हैं।

**अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसःपिपुआ निरवद्यात्।**

**तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।।**

हे देवगण! इस प्रभात में हमें सूर्य के उदित होने पर समस्याओं से मुक्त करें; पाप से हमें मुक्त करें। मित्र, वरुण, सिन्धु, पृथ्वी तथा स्वर्ग हमारी यह मनःकामना पूर्ण करें।